हमें विचार करना चाहिये, कि बाहर यह जो कुछ भी दिख रहा है/सो मैं नहीं हूँ/और वह/मेरा भी नहीं है/ये आँखें मुझे/(आत्मा) को/देख नहीं सकतीं/मेरे पास देखने की शक्ति है...[6] इन आँखों से केवल बाहरी वातावरण ही देखने में आता है। जो इन आँखों से देख रहा है, वह नहीं दिख पाता। उसे ये आँखें देख नहीं पाती। देख भी नहीं सकतीं। तब फिर जो दिखाई पड़ रहा है, आँखों से, वह मैं कैसे हो सकता हूँ और वह मेरा कैसे हो सकता है?

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदा रूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि ।।[7]

मैं अकेला हूँ। शुद्ध हूँ। आतमरूप हूँ। मैं ज्ञानवान् और दर्शनवान् हूँ। मैं रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रूप नहीं हूँ। सदा अरूपी हूँ। कोई भी अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। इस प्रकार की भावना जिसके हृदय घर में हमेशा भरी रहती है, ध्यान रखना, उसका संसार का तट बिल्कुल निकट आ चुका है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इस भावना को निरन्तर भाते रहने से ही हमें वैराग्य आ सकता है। इस भावना के द्वारा ही हमारे भीतर के कर्म के बन्धन छूट सकते हैं। संसार में कर्तृत्व बुद्धि और भोक्तृत्व बुद्धि, स्वामित्व बुद्धि, इन तीनों प्रकार की बुद्धियों के द्वारा ही संसारी प्राणी की बुद्धि समाप्त हो गयी है। वह बुद्धिमान होकर भी बुद्धू जैसा व्यवहार कर रहा है। अनन्तों बार जन्म-मरण की घटना घट चुकी है और अनन्तों बार जन्म-मरण के समय एकाकी ही इस जीव ने अपनी संसार की यात्रा की है। आज अपने को समझदार मानने वाला भी मझधार में ही है।

थोड़ा विचार करें तो ज्ञात होगा कि कितनी पर्यायें, कितनी बार हमने धारण की और कितनों का संयोग-वियोग हमारे जीवन में हुआ है। जिसके वियोग में यहाँ पर हम रोते हैं, वह मरण के उपरान्त एक समय में ही अन्यत्र कहीं पहुँचकर जन्म ले लेता है और वहीं रम जाता है। विष्ठा का कीड़ा विष्ठा में राजी वाली बात है। उसके वियोग में हमारा रोना अज्ञानता ही है। आचार्य कहते हैं कि यह सब पराये को अपना मानने का तथा पर-पदार्थों में एकत्व-बुद्धि रखने का ही परिणाम है। पर के साथ एकत्व बुद्धि छोड़ना ही एक मात्र पुरुषार्थ है। छोड़ते समय जिसे ज्ञान और विवेक जागृत हो जाता है उस की आँख खुल गयी है, ऐसा समझना चाहिये।

दुनिया के सारे सम्बन्धों के बीच भी मैं अकेला हूँ, यही भाव बना रहना आकिञ्चन्य धर्म का सूचक है। 'सागर' में एक बार बोली लग रही थी, तब

तक बोली तेरा सौ एक रुपये में गयी। हमने तो वही विचार किया कि अच्छा रहस्य खुल गया 'तेरा सो एक' अर्थात् हमारा यदि कुछ है तो वह हमारा यही एकाकी भाव है। इस संसार में किसी का कोई साथी-सगा नहीं है।

आप अकेलो अवतरै, मरे अकेलो होय।
यूँ कबहूँ इस जीव को, साथी सगा न कोय ।।[8]

बन्धुओं! समझ लो एवं सोच लो। यह जो ऊपर पर्याय दिख रही है, यह वास्तव में हमारी नहीं है। हम इसी के लिए निरन्तर अपना मानकर परिश्रम कर रहे हैं, और दु:ख उठा रहे हैं। विवेक के माध्यम से इस पर्याय को अपने से पृथक् मानकर के यदि इस जीवन को चलाया जाये, जो जीवन आज दु:खमय बना है, वही आनन्दमय हो जाएगा। जिसकी तत्त्व पर दृष्टि चली जाती है, वह फिर पर्याय को अपना आत्म-तत्व नहीं मानता और न ही पर्याय में होने वाले सुख-दु:ख को भी अपना मानता है। यही आध्यात्मिक उपलब्धि है। इसके अभाव में ही जीव संसार में कहाँ-कहाँ भटकता रहता है और निरन्तर दु:खी होता है।

हमारी इस प्रवृत्ति को देखकर आचार्यों को करुणा आ जाती है। 'कहें मीख गुरु करुणा धारि'[9] -वे करुणा करके हमें उपदेश देते हैं, शिक्षा देते हैं कि पाँच मिनिट के लिए ही सही लेकिन अपनी ओर, अपने आत्म-तत्व की ओर दृष्टि उठाकर तो देखो, जो कुछ संसार में दिखाई दे रहा है, वह सब कर्म का फल है। अज्ञान का फल है। आत्मा के स्वभाव का फल तो जिन्होंने आत्म-स्वभाव को प्राप्त कर लिया है, उसके चरणों में जा कर ही जाना जा सकता है। बाहर के जगत् में सिवा दु:ख के और कुछ हाथ नहीं आता। भीतर जगत् में जाकर देखें कि भीतर कैसा खेल चल रहा है। कर्म किस तरह आत्मा को सुख-दु:ख का अनुभव करा रहा है।

यह आत्म-दृष्टि पाना एकदम सम्भव नहीं है। यह मात्र पढ़ने या सुनने से नहीं आती। इसे प्राप्त करने के लिए जो रत्नत्रय से युक्त हैं, जो वीतरागी हैं, जो तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखते, उनके पास जाकर बैठिये। पूछिये भी मत, मात्र पास जाकर बैठिये तो भी अपने आप ज्ञान हो जायेगा कि वास्तव में सुख तो अन्यत्र कहीं नहीं है। सुख तो अपने भीतर एकाकी होने में है। नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि-

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा ।
अंतरहेऊ भणिया दंसणमोहस्स खयपहुदी ।।[10]

अर्थात् सम्यग्दर्शन का अन्तरङ्ग हेतु तो दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होता है लेकिन उसके लिए बहिरङ्ग हेतु तो जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे सूत्र- वचन और उन सूत्रों के जानकार ज्ञाता-पुरुषों का उपदेश श्रवण है। इसके सिवाय और कोई ऐसा उपाय नहीं है जिसके माध्यम से हम दर्शन मोहनीय या चारित्र मोहनीय को समाप्त कर सकें और अपने आत्म-स्वरूप को प्रकट कर सकें।

रागद्वेष रूपी रसायन के माध्यम से यदि कर्मों का बन्ध होता है, संसार का निर्माण होता है; तो वीतराग भावरूपी रसायन के माध्यम से सारे के सारे कर्मों का विघटन भी सम्भव है। वीतरागी के चरणों में जाकर हमें अपने रागभाव को विसर्जित करना होगा, 'पर' पदार्थों के प्रति आसक्ति को छोड़ना होगा, तभी एकत्व की अनुभूति हो सकेगी।

अकेले इच्छा करने मात्र से कोई अकेलेपन को अर्थात् मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। इच्छा मात्र से सुख की प्राप्ति नहीं होती और न ही मृत्यु से डरते रहने से कोई मृत्यु से बच पाता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने सुपार्श्वनाथ भगवान की स्तुति करते हुए लिखा है कि-

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो, नित्यं शिवम् वाञ्छति नास्य लाभः।
तथापि बालो भयकामवश्यो वृषा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ॥[11]

देखो, यह संसारी प्राणी कितना अज्ञानी है कि मृत्यु से हमेशा डरता है। लेकिन मृत्यु से डरने मात्र से कभी मृत्यु से बचा नहीं जा सकता और सुख की इच्छा हमेशा रखता है, लेकिन सुख की इच्छा मात्र से सुखी भी नहीं हो सकता। फिर भी यह संसारी प्राणी भय और कामवासना के वशीभूत होकर व्यर्थ ही स्वयं को पीड़ा में डाल देता है।

असल में जब तक यह ज्ञान नहीं होता कि शरीर मेरा नहीं है, तब तक इस के प्रति रागभाव बना रहता है। यही रागभाव हमारी मुक्ति में बाधक है। इसी के कारण मृत्यु से हम मुक्त नहीं हो पाते और न ही हमें शिव-सुख की प्राप्ति होती है।

एक बार यदि यह संसारी प्राणी वीतरागी के चरणों में जाकर अपने को अकेला मानकर उनकी शरण को स्वीकार कर ले और भीतर यह भाव जागृत हो जाये कि 'अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम'-एकमात्र वीतरागता के सिवाय, आकिञ्चन्य धर्म के सिवाय मेरे लिए और कोई शरण नहीं है। शरण यदि संसार में है तो एकमात्र यही है। तब ससांर का अभाव होने में देर नहीं लगेगी।

राग सहित जग में रुल्यो, मिले सरागी देव ।
वीतराग भेट्यो अबै मेटो राग कुटेव ॥[12]

अभी तक संसार में राग सहित रुलता रहा, भटकता रहा और सरागता को ही अपनाता रहा। रागी व्यक्ति राग को ही खोज लेता है और उसी को अपनाता जाता है। उसी में शरण या सुरक्षा मान लेता है, उसी को अपना सङ्गी-साथी और हितैषी मानकर संसार में रुलता रहता है। "अगर मन में ऐसा विचार आ जाये कि संसार में मैं भी सरागता के कारण रुल रहा हूँ। आज बड़े सौभाग्य से वीतरागता का दर्शन हुआ है। वीतरागी के चरण सान्निध्य का सौभाग्य मिला है। वीतरागी से भेंट हो गयी है। अब यही वीतरागता मेरी राग की ओर बार-बार जाने वाली आदत को मिटाने में सहायक होगी; तो कल्याण होने में देर नहीं।"

सभी के प्रति रागभाव से मुक्त होकर, एकाकी होकर अपने वीतराग स्वरूप का चिन्तन करना ही आज के आकिञ्चन्य धर्म की उपलब्धि होगी। हमारा क्या है? ऐसा विचार करें तो ज्ञात होगा कि हमारा तो सिद्धत्व है। हमारा तो ज्ञानपना है, दर्शनपना है। हमारा परिवार हम स्वयं ही है। हमारे पिता और माता भी हमीं हैं। हमारी सन्तान, पुत्र आदि भी हमीं हैं। इस संसार में कोई 'पर' पदार्थ हमारा नहीं है और हो भी कैसे सकता है? ऐसा भाव आप बनाते जाइये, एक समय आयेगा कि जब यह ऊपर का दिखाई पड़ने वाला संबंध मिट जायेगा और अनन्तकाल के लिए हम एकाकी होकर अपने आत्म-आनन्द में लीनता का अनुभव करेंगे।

आकिञ्चन्य धर्म-

१. स्वयंभूस्तोत्र -३
२. भूधरदास-कृत बारहभावना-४
३. भावपाहुड-५१, नियमसार -१०२
४. मंगतराय-कृत बारहभावना-२१
५. देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा) -५१
६. मूक-माटी (महाकाव्य)-पृ. ३४५
७. समयसार -४३
८. भूधरदास कृत बारहभावना-४
९. छहढाला (पहली ढाल-१)
१०. नियमसार-५३
११. स्वयंभूस्तोत्र-३४
१२. विनयपाठ- १४

□□

उत्तम–ब्रह्मचर्य

सव्वंगं पेच्छंतो,इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं ।
तो बम्हचेरभावं, सुक्करि खलु दुद्धरं धरदि ॥

□ **जो पुण्यात्मा स्त्रियों के सुन्दर अंङ्गों को देखकर भी उनमें रागरूप बुरे परिणाम करना छोड़ देता है वही दुर्द्धर ब्रह्मचर्य को धारण करता है। (८०)**

मनोज और मनोरमा अर्थात् 'कामदेव' और उसकी सङ्गी-साथी 'रति' दोनों घूमने जा रहे थे। कामदेव अपना प्रभुत्व दिखाने के लिए रति से कहता है कि मेरा कितना प्रभाव है कि तीन-लोक को मैंने अपने वश में करके रखा है और रति भी उसकी हाँ में हाँ मिलाती जा रही थी कि अचानक सामने बैठे दिगम्बर- मुनि पर दृष्टि पड़ते ही वह निष्प्रभ हो गया। रति चकित होकर पूछने लगी कि नाथ! क्या बात हो गई? आप अभी तक सतेज थे, अब आपका सारा तेज कहाँ चला गया? मन्दी क्यों आ गयी? तब कामदेव उदास भाव से बोला कि क्या बताऊँ, हमने बहुत प्रयास किया, सभी प्रकार की नीति अपनायी लेकिन यही एक पुरुष ऐसा देखा जिस पर मेरा वश नहीं चला। पता नहीं इसका मन कैसा है? इसका प्रभुत्व कैसा है? इसमें ऐसा क्या प्रभाव है कि यह मेरे प्रभाव में नहीं आया?

आखिर यह कौन सी शक्ति है जो काम वासना को भी अपने वश में कर लेती है। बड़े-बड़े पहलवान कहलाने वाले भी जिस काम वासना के आगे घुटने टेक देते हैं, वही काम इस व्यक्ति की शक्ति के सामने घुटने टेक रहा है।

अन्तकः क्रन्दको नृणां, जन्मज्वरसखा सदा ।
त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः ॥[1]

अरहनाथ भगवान की स्तुति करते हुए समन्तभद्र आचार्य कहते हैं कि हे भगवन्! पुनर्जन्म और ज्वर आदि व्याधियों का साथी और हमेशा मनुष्यों को रुलाने वाला मृत्यु का देवता यम भी मृत्यु का नाश करने वाले आपको पाकर अपनी प्रवृत्ति ही भूल गया अर्थात् आपके ऊपर यम का कोई प्रभाव

नहीं पड़ रहा है। आपकी इस वीतराग शक्ति के सामने आकर सभी नतमस्तक हो जाते हैं और अन्त में रति के साथ कामदेव भी उन वीतरागी के चरणों में नतमस्तक हो गया।

ठीक भी है।

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशांगनाभि-
र्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन,
किं मन्दरादिशिखरं चलितं कदाचित् ॥[2]

आचार्य मानतुंग महाराज ने भी वृषभनाथ भगवान की स्तुति करते हुए इस श्लोक में इस भीतरी आत्म-शक्ति का प्रभाव बताया है। वे कहते हैं कि हे भगवन्! जैसे प्रलय काल के पवन से सामान्य पर्वत भले ही हिल जाये लेकिन सुमेरू पर्वत जो पर्वतों का राजा है, शैलेश है, उसका शिखर कभी चलायमान नहीं हो सकता। अनन्तकाल व्यतीत हो गया लेकिन सुमेरू पर्वत को हिलाया नहीं जा सका। उसी प्रकार तीन- लोक की सुन्दर से सुन्दर अप्सरायें भी क्यों न आ जायें, आपके मन को विचालित नहीं कर सकती हैं। राजभवन में सिंहासन पर बैठे राजा वृषभदेव के सामने जब इन्द्र ने नीलाञ्जना को नृत्य के लिए बुलाया था तब वे भले ही उससे प्रभावित होकर नृत्य देखते रहे हों, लेकिन वे ही अप्सराएं पुनः यदि अब भगवान वृषभनाथ के सामने आकर नृत्य के द्वारा उन्हें प्रभावित या विचलित करना चाहें, तो असंभव है। अब तो उनका मन सुमेरू की तरह अडिग हो गया है। वे ब्रह्मचर्य में लीन हो गये हैं। इस ब्रह्मचर्य की शक्ति के सामने कामदेव भी नतमस्तक हो जाता है।

अपनी आत्मा पर विजय पाने वालों की गौरव-गाथा जितनी गायी जाये, उतनी ही कम है। वे महान् आत्माएँ अपनी आत्मशक्ति का प्रदर्शन नहीं करतीं, वे तो अपनी शक्ति के माध्यम से अपने आत्मा का दर्शन करती है। एक पंक्ति अंग्रेजी में हमने पढ़ी थी कि "यू केन लिव एज यू लाईक"-अर्थात आप जैसा रहना चाहें रह सकते हैं। रागद्वेष और विषय-भोगमय जीवन बनाकर रहना चाहें तो रह सकते हैं और रागद्वेष तथा विषय-भोग से मुक्त जीवन जीना चाहें तो भी जी सकते हैं। हमारे चौबीस तीर्थङ्करों में पाँच तीर्थङ्कर ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने गृहस्थी तक नहीं बसायी। वे कुमार अवस्था में ही

दीक्षित होकर तपस्या में लीन हो गये। वासुपूज्य भगवान, मल्लिनाथ भगवान, नेमिनाथ भगवान, पार्श्वनाथ और महावीर भगवान, ये पाँचों इसी कारण 'बालयति' कहे जाते हैं। इनके आदर्शों पर हम चलना चाहें तो चल सकते हैं। संसार में संसारी प्राणी जिन विषय भोगों में फँसकर पीड़ित हैं, दु:खित हैं और चिन्तित भी हैं, उसी संसार में इन पाँच-बालयतियों ने विषय भोगों की ओर देखा तक नहीं और अपने आत्म-कल्याण के लिए निकल गये। यही तो आत्मा की शक्ति है। जो इस शक्ति को जागृत करके इसका सदुपयोग कर लेता है, वह संसार से पार हो जाता है।

सब संसारी प्राणियों का इतिहास पापमय रहा है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह रूप चार संज्ञाएं (इच्छाएं) प्रत्येक संसारी प्राणी में विद्यमान हैं। सोलहवें स्वर्ग से ऊपर के देवों में जो अप्रवीचार कहा है, उसका अर्थ यह नहीं है कि वे काम वासना से रहित हो गये हैं। चारों संज्ञाएं उनके भी हैं। विषय भोगों का त्याग करने वाले वीतरागी के लिए जो सुख मिलता है, उसका अनन्तवाँ भाग अप्रवीचारी होने के बाद भी उन देवों को नहीं मिलता। जब कभी गुरुओं के उपदेश से, जिनवाणी के श्रवण करने से, संसारी प्राणी यह भाव जागृत कर ले कि आत्मा का स्वभाव तो विषयातीत है, इन्द्रियातीत है तथा अपने में रमण करना है; तो फिर उसके मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त होने में देर नहीं लगती। आज का यह अन्तिम ब्रह्मचर्य धर्म तब उसके जीवन में आने लगेगा।

कभी विचार करें तो मालूम पड़ेगा कि जीवन में निरन्तर कितने उत्थान-पतन होते रहते हैं। शरीरकृत, क्षेत्र और कालकृत, तो फिर भी कम हैं किन्तु भावकृत परिवर्तन तो प्रतिक्षण होते ही रहते हैं और यह संसारी आत्मा निरन्तर उसी में रचती-पचती रहती है। हमने सुना था कि छत्तीसगढ़ के कुछ आदिवासी क्षेत्रों में लोगों को अभी भी चाँवल (भात) अत्यन्त प्रिय है। वह चावल भी ऐसा नहीं जैसा आप लोग खाते हैं। उनका चावल तो ऐसा है कि सुबह पकने रख देते हैं एक मटकी में पानी डालकर और फिर जब भूख लगती है या प्यास लग आती है तो उसमें से चावल का पानी (क्या बोलते हैं आप माँड), हाँ, वही निकालकर पी लेते हैं और एक दो लोटा पानी और उसी में डालकर पकने देते हैं। यही स्थिति संसारी प्राणी की है। प्रति समय मानों एक लोटा पानी वही सड़ा-गला पी लेता है और पुन: उसमें दो एक लोटा पानी और डाल देता है। जैसे पकते-पकते वह चावल का पानी

पोष्टिक और मादक हो जाता है, ऐसे ही संसारी प्राणी का मोह और पुष्ट होता जाता है तथा अधिक मोहित करने वाला हो जाता है।

यह निरन्तरता अरहट (रहट) या घटीयन्त्र के समान बनी रहती है। एक मटकी खाली नहीं हो पाती और दूसरे भरने लगती है। क्रम नहीं टूटता। श्रृंखला बनी रहती है। बन्धुओं! इस संसार की नि:सारता के बारे में और अपने वास्तविक स्वभाव के बारे में आपको विचार अवश्य करना चाहिये।

दस दिन से धर्म का विश्लेषण चल रहा है। धर्म के विभिन्न नाम रखकर आचार्यों ने हमारे स्वभाव से हमारा परिचय कराने का प्रयास किया है। पहले दिन हमने 'धम्मो वत्थु सहावो' की बात कही थी। उसी की प्राप्ति के लिए यह सब प्रयास है। दस दिन तक आपने मनोयोग से सुना है। कल हो सकता है, आपके जाने का समय आ जाये। आप चले जायेंगे लेकिन जहाँ-कहीं भी जायें, इस बात को अवश्य स्मरण करते रहिये कि यह आना-जाना कब तक लगा रहेगा? वस्तु का स्वभाव परिणमनशील अवश्य है, पर ससांर में आना-जाना और भटकना स्वभाव नहीं है।

एक उदाहरण याद आ गया। 'कबीरदास' अपने पुत्र 'कमाल' के साथ चले जा रहे थे। कबीरदास आध्यात्म के भी रसिक थे। सन्त माने जाते थे। चलते-चलते अपने बेटे से उन्होंने कहा कि बेटे! संसार की दशा तुमसे क्या कहें, उधर देखो जैसे चलती चक्की में दो पाटों के बीच में धान्य पिस रहे हैं, कोई भी धान्य साबुत नहीं बच पा रहा है, ऐसी ही दशा संसारी प्राणी की भी है। संसार में कुछ भी सार नहीं है। कहते हैं कि बेटा सुनकर मुस्करा दिया और बोला-पिताजी! यह तो है ही, लेकिन इस चलती चक्की में भी कुछ धान्य ऐसे हैं जो दो पाटों के बीच में पिसने से बच जाते हैं। जरा ध्यान से सुनना, धान्य की बात है और ध्यान की भी बात है। (हँसी) जो धान्य चक्की में दो पाटों के बीच में जाने से पहले ध्यान रखता है कि अपने को कहाँ जाना है? अगर पिसने से बचना है तो एक ही उपाय है कि कील के सहारे टिक जाएं। तब फिर चक्की सुबह से शाम तक भी क्यों न चलती रहे, वे धान्य कील के सहारे सुरक्षित रहे आते हैं।

'धम्मं सरणं पव्वज्जामि' -संसार में धर्म की शरण ऐसी ही है, जिसके सहारे संसार से सुरक्षित रहा जा सकता है। धर्म रूपी कील की शरण में संसारी प्राणी रूपी धान्य आ जावे तो वह कभी संसार में पिस नहीं सकता। कबीरदास सुनकर गद्‌गद् हो गये कि सचमुच कमाल ने कमाल की बात कही है। (हँसी)

बन्धुओं! संसार से डरने की आवश्यकता नहीं है और कर्मों के उदय से भी डरने की आवश्यकता नहीं है। तत्वार्थ सूत्र जी में एक सूत्र आता है।- जगत्कायस्वभावौ वा संवेग-वैराग्यार्थम्।[3] जगत् के स्वभाव को जानना 'संवेग' का कारण है और शरीर के स्वभाव को पहचानना 'वैराग्य' में कारण है। जो निरन्तर संवेग और वैराग्य में तत्पर रहने वाली आत्माएँ हैं, उनको कर्मों के उदय से डरने की आवश्यतकता नहीं है। संसार का गर्त कितना भी गहरा क्यों न हो, संवेगवान् और वैराग्यवान् जीव कभी उसमें गिर नहीं सकता। यह बिल्कुल लिखकर रखिये कि जब कभी भी संसार से मुक्ति मिलेगी तो उसी संवेग और वैराग्य से ही मिलेगी।

मैं आज यही कहना चाह रहा हूँ कि पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होने का नाम ही 'ब्रह्मचर्य धर्म' है। व्यवहार रूप से तो यह है कि स्त्री-पुरुष परस्पर राग-जन्य प्रणय सम्बन्धों से विरक्त रहें, परन्तु वास्तव में तो पदार्थ-मात्र के प्रति विरक्ति का भाव आना चाहिये। पदार्थ के साथ, सम्बन्ध अर्थात् पर के साथ सम्बन्ध होना ही 'संसार' है। जो अभी 'पर' में संतुष्ट है, इसका अर्थ है कि वह अपने आप में सन्तुष्ट नहीं है। वह अपने आत्म-स्वभाव में निष्ठ नहीं होना चाहता। तभी तो, पर-पदार्थ की ओर आकृष्ट है। ज्ञानी तो वह है जो अपने आप में है, स्वस्थ है। अपनी आत्मा में ही लीन है। उसे स्वर्ग के सुखों की चाह नहीं है और न ही संसार की किसी भी वस्तु के प्रति लगाव है। वह तो ब्रह्म में अर्थात् आत्मा में ही सन्तुष्ट है।

युक्त्यनुशासन में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने एक कारिका लिखी है, वह मुझे अच्छी लगती है-

दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं, नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै र्जिन स्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥[4]

हे वीर भगवन्! आपका मत-दया, दम, त्याग और समाधि की निष्ठा को लिए हुए है। नयों और प्रमाण के द्वारा सम्यक् तत्त्व को बिल्कुल स्पष्ट करने वाला है और दूसरे सभी प्रवादों से अबाध है यानी बाधा रहित है, इसलिए अद्वितीय है। 'दया' अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति करुणा का भाव, अपने दस-प्राणों की रक्षा करना भी अपने ऊपर दया है। प्राणों की रक्षा तो महाव्रतों को धारण करने से ही होगी। इन्द्रिय-संयम का पालन करने से होगी।

'दम' का अर्थ है, इन्द्रियों को अपने वश में करना। इच्छाओं का शमन करना। जिसकी दया में निष्ठा होगी, वही दम को प्राप्त कर सकेगा। इन्द्रियों

के ऊपर विजय प्राप्त किये बिना दया सफलीभूत नहीं होती। त्याग क्या चीज है? तो कहते हैं कि विषय-कषायों को छोड़ने का नाम 'त्याग' है। त्याग के उपरान्त ही समाधि की प्राप्ति होती है। 'समाधि' तो उस दशा का नाम है जब हम आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त होते हैं। मानसिक पीड़ा या वेदना का नाम 'आधि' है और शरीरकृत वेदना को 'व्याधि' कहा गया है। 'उपाधि' एक प्रकार का बौद्धिक आयाम है, जिसमें स्वयं को लोगों के बीच बड़ा बताने का भाव होता है। मेरा नाम हो इस बात की चिन्ता ही 'उपाधि' है। 'समाधि' इन तीनों से रहित अवस्था का नाम है।

समाधि का अर्थ ही यह है कि सभी प्रकार से समत्व को प्राप्त होना। एक लौकिक शब्द आता है समधी, इससे आप सभी परिचित हैं। (हँसी) पर इसके अर्थ से बहुत कम लोग परिचित होंगे। जिसकी 'धी' अर्थात् बुद्धि, सम अर्थात् शान्त हो गयी है वह 'समधी' है। अभी तो लौकिक रूप से समधी कहलाने वालों का मन जाने कहाँ-कहाँ जाता है? एक-सा शान्त कहीं ठहरता ही नहीं है। जब सभी बाहरी सम्बन्ध बिल्कुल छूट जाएं और आत्मा अपने में लीन हो जाए वह दशा 'समाधि' की है।

सुनते हैं जब हार्ट-अटैक वगैरह कोई हृदय सम्बन्धी रोग हो जाता है तो डॉक्टर लोग कह देते हैं कि 'कम्पलीट बेड रेस्ट' यानी पूरी तरह बिस्तर पर आराम करना होगा। आना-जाना तो क्या; यहाँ तक कि अधिक सोचना और बोलना भी बन्द कर दिया जाता है। समय पर मात्र औषधि और पथ्य दिया जाता है, तब जाकर स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। ऐसा ही तो समाधि में आवश्यक है। सन्तुलन आना चाहिये। शान्त भाव आना चाहिये। तभी स्वास्थ्य मिलेगा। जीवन में वास्तविक ब्रह्मचर्य की प्राप्ति भी तभी होगी।

मन-वचन-काय की चेष्टा से जब परिश्रम अधिक हो जाता है, तो विश्राम आवश्यक हो जाता है। यह तो लौकिक जीवन में भी आप करते हैं। ऐसे ही संसार से विश्राम की दशा का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। आपे में रहना अर्थात् स्वभाव में रहना। जैसे पिताजी से बात करनी हो तो बेटा डरता है और देख लेता है कि अभी तो पिताजी का मन बेचैन है, शान्त नहीं है। तो वह उनके पास भी नहीं जाता। यदि कोई कहे भी कि चले जाओ, पूछ आओ तो वह कह देता है कि अभी नहीं, बाद में पूछ लूँगा। अभी पिताजी आपे में नहीं हैं अर्थात् अपने शान्त स्वभाव में नहीं हैं। कहीं-कहीं पर ब्रह्मचर्य के लिए 'शील' शब्द भी आता है, शील का अर्थ ही स्वभाव है।

लौकिक व्यवहार में कुशील शब्द स्त्री-पुरूष के बीच अनैतिक या विकारी सम्बन्धों को सूचित करने के लिए आता है। लेकिन परमार्थ की अपेक्षा आचार्य कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं कि-

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
किह तं होदि सुसीलं जं संसार पवेसेदि ॥[5]

अशुभ कर्म कुशील है और शुभ कर्म सुशील हैं, ऐसा सभी जानते हैं, लेकिन परमार्थ की अपेक्षा देखा जाए तो सुशील तो वह है जो संसार से पार हो चुका है। कुशील का अर्थ है जो अपने शील/स्वभाव से दूर है। जैसे म्यान में तलवार तभी रखी जायेगी जब वह एकदम सीधी हो। थोड़ा भी टेढ़ापन हो तो रखना सम्भव नहीं है। उसी प्रकार आत्मा अपने स्वभाव में विचरण करे तो ही सुशील है। कर्मों के बन्धन के रहने पर वह सुशील नहीं मानी जायेगी।

अपने इस सुशील को सुरक्षित रखना चाहो तो विकार के प्रति राग मत रखो। अपने से जो भी पृथक् है। पर है उसके संसर्ग से दूर रहो क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से अपने स्वाधीन सुख का विनाश होता है। बहुत दिनों पहले हिन्दी में एक छन्द लिखा था

क्या हो गया समझ में मुझको न आता, क्यों बार-बार मन बाहर दौड़ जाता।
स्वाध्याय, ध्यान करके मन रोध पाता, पै श्वान सा मन सदा मल शोध लाता॥[6]

मन को अच्छी से अच्छी चीज भी दो लेकिन बुरी चीजों की ओर जाने की उसकी आदत है, वह उसे नहीं छोड़ता। ऐसे इस मन को काबू में रखने का आसान तरीका यही है कि पहले उसके स्वभाव को समझा जाए। मन का तो ऐसा है कि जैसे सितार के तार जरा ढीले हो जाएँ तो सङ्गीत बिगड़ जाता है और अगर जोर से खींच दिये जाएं, कस दिये जायें तो टूट जाते हैं। उन्हें तो ठीक से सन्तुलित कर दिये जाने पर ही अच्छा सङ्गीत सुनायी देता है। ऐसा ही मन को सन्तुलित करके रखा जाए तो उस पर काबू पाना आसान है।

मन तो ज्ञान की एक परिणति है। उसे सँभालना अनिवार्य है। जैसे ही पञ्चेन्द्रिय की विषय-सामग्री सामने आती है या स्मृति में आती है, वैसे ही तुरन्त मन उस ओर दौड़ जाता है। वस्तुतः,देखा जाए तो ज्ञान का यह परिणमन इतना अभ्यस्त हो गया है और विश्वस्त हो गया है कि वह 'इसी सामग्री के माध्यम से सुख मिलेगा' यह मान बैठा है और संस्कारवश उसी

ओर ढलक जाता है। बन्धुओं! पञ्चेन्द्रिय के विषयों में सुख नहीं है। अगर सुख होता तो जो सुख एक लड्डू खाने में आता है उतना या उससे अधिक दूसरे में भी आना चाहिये और तृप्ति हो जानी चाहिये। लेकिन अभी तक किसी को भी तृप्ति नहीं हुई। यह बात समझ में आ जाये तो मन को जीतना आसान हो जायेगा।

एक विद्यार्थी की कथा सुनाकर आपको जागृत करना चाहता हूँ। एक गुरुकुल में बहुत सारे विद्यार्थी अपने गुरु के पास वर्षों से विद्याध्ययन कर रहे थे। साधना भी चल रही थी। एक बार गुरुजी के मन में आया कि परीक्षा भी लेनी चाहिये, प्रगति कहाँ तक हुई है? परीक्षा ली गयी। कई प्रकार की साधना विद्यार्थियों को करायी गयी, पर एक विशेष साधना में सारे विद्यार्थी एक के बाद एक फेल होते गये। गुरुजी को लगा कि शायद अब कोई परीक्षा में पास नहीं हो पायेगा। सिर्फ एक विद्यार्थी और शेष रह गया। उसकी परीक्षा अभी ली जाना थी। उसे बुलाया गया। परीक्षा यह थी कि मुख में एक चम्मच बूरा (शक्कर) रखना है, और परीक्षा हो जायेगी। विद्यार्थी ने आज्ञा का पालन किया और गुरुजी के कहने पर मुख खोल दिया और उसमें एक चम्मच बूरा डाल दिया गया। गुरुजी एकटक होकर उसकी मुख मुद्रा देखते रहे। उस विद्यार्थी के चेहरे पर शान्ति छायी थी और मुख में बूरा ज्यों का त्यों रखा था।

विद्यार्थी ने उसे खाने की चेष्टा भी नहीं की क्योंकि आज्ञा तो मात्र बूरे को मुख में रखने की थी, वह तो हो गया, स्वाद लेने या खाने का भाव ही नहीं आया। यह देखकर गुरुजी का मुख खिल गया। वे बोल-तुम परीक्षा में पास हो गये। जितेन्द्रिय होना ही ब्रह्मचर्य ही सही पहचान है। यही सच्ची साधना और अध्ययन का फल हैं। एक-एक भाषा के कई-कई कोष तैयार हो रहे हैं। शोधग्रन्थ लिखे जा रहे हैं, लेकिन इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने की ओर किसी का ध्यान नहीं है। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले विरले ही लोग हैं।

आज का युग भाषा-विज्ञान में उलझ रहा है और भीतर के तत्त्व को पकड़ ही नहीं पा रहा है। जो ज्ञान, साधना के माध्यम से जीवन में आता है वह भाषा के माध्यम से कैसे आ सकता है? साहित्य की सही परिभाषा तो यही है कि जो हित से सहित हो, जो हित से युक्त हो वही 'साहित्य' है। जिसके अवलोकन से आत्मा के हित का सम्पादन हो सके, वही 'साहित्य'

है। ऐसा साहित्य ही उपादेय है जो हमें साधना की ओर अग्रसर करे। ज्ञानी भी वही है, जो खाते हुए भी नहीं खाता, जो पीते हुए भी नहीं पीता, देखते हुए भी नहीं देखता। जैसे जब, जिस चीज की ओर हमारा उपयोग नहीं होता तब वह करते हुए भी हम उसमें नहीं रचते-पचते। यही स्थिति ज्ञानी की है। वह पाँचों पापों का पूर्णरूप से त्याग करके महाव्रतों को धारण कराता। संसार के कार्य वह अनिच्छापूर्वक करता है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों से मन को हटाकर अपने आत्म-ध्यान में लगना ही ज्ञानीपने का लक्षण है।

बन्धुओं! छोटी-छोटी बात का सङ्कल्प लेकर भी हम अपने जीवन में साधना कर सकते हैं और आत्मा को पवित्र बना सकते हैं। आत्मा की पवित्रता ही 'ब्रह्मचर्य' है। आप आज दशलक्षण धर्म का अन्तिम दिन मत समझिये। दशलक्षण धर्म तो तभी सम्पन्न हुए माने जायेंगे जब हम जितेन्द्रिय होकर शैलेषी दशा को प्राप्त कर लेंगे। मेरु के समान अपने शील-स्वभाव में निश्छल होंगे। तभी लोक के अग्र भाग पर अनन्त काल के लिए आत्मा में रमण करेंगे। आत्मा में रमना ही सच्चा 'ब्रह्मचर्य' है जिसके उपरान्त किसी भी प्रकार की विकृति या विकारी भावों का प्रादुर्भाव होना सम्भव नहीं है।

निज माहिं लोक आलोक गुण परजाय प्रतिबिम्बित भये ।
रहिहैं अनन्तानन्त काल यथा तथा शिव परिणये ।।
धनि धन्य है जे जीव नरभव पाय यह कारज किया ।
तिन ही अनादि भ्रमण पञ्च प्रकार तजि वर सुख लिया ।।[7]

कवि ने सिद्ध भगवान की स्तुति करते हुए 'छहढाला' के अन्त मे कहा है कि वे धन्य हैं जिन्होंने मनुष्य जन्म पाकर ऐसा कार्य किया कि पुन: अब किसी भी कार्य को करने की आवश्यकता नहीं रही। संसार के परिभ्रमण से मुक्त होकर उन्होंने उत्तम-सुख को अर्थात् मोक्ष-सुख को पा लिया। मोक्ष लक्ष्मी का वरण कर लिया। अथवा यूँ कहिये कि मोक्ष लक्ष्मी ने स्वयं आकर उनके गले में मुक्ति रूपी माला पहना दी। हमेशा से ही होता आया है कि भोक्ता का वरण भोग्य द्वारा किया जाता है।

'जयोदय महाकाव्य' में जय कुमार और सुलोचना स्वयंवर का मार्मिक चित्रण आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने किया है। यह स्वयंवर की परम्परा आदिब्रह्मा आदिनाथ के समय की है। यहाँ भी यही बात परिलक्षित होती है कि स्त्री ने पुरुष का वरण किया।

आज ब्रह्मचर्य के दिन मैं यही कहना चाह रहा हूँ कि वस्तुत:, भोग्य पदार्थ की ओर झुका हुआ पुरुष वासना का दास बनकर संसार बढ़ाता है और भोग्य पदार्थ जब स्वयं उसकी ओर देखने लगें अर्थात् उसका वरण करने को उत्सुक हो जाएँ तो वह पुरुष तीन-लोक का नाथ बन जाता है। आज पुरुष की दृष्टि भोग्य पदार्थों की ओर जा रही है। यही विकृति है, विकार है। पदार्थों की ओर हाने वाली दौड़ ही व्यक्ति को कंगाल बनाती है। जो अपने में है, स्वस्थ है, उसके पास ही मौलिक सम्पदा आज भी है।

जिसकी नासिका को देखकर निशिगन्धा भी लज्जा को प्राप्त हो रही है, जिसके नयन नीलकमल के समान सुन्दर हैं, जिसकी भृकुटियाँ देखकर इन्द्रधनुष भी अपने धन को खोता हुआ सा लग रहा है, जिसके विशाल भाल की शोभा वृहस्पति की शोभा को फीका कर रही है, जिसके केशों का घुंघरालापन देखकर माया भी चकित है, जिसके अधर पल्लवों को देखकर मूँगा भी गूँगा सा होकर बैठ गया है, जिसके चरणों को देखकर सकल चराचर झुकने को तत्पर हो गये हैं, जिसके पद-नख की आभा के सामने चन्द्रमा की चाँदनी भी फीकी पड़ रही है, जिसके सुन्दर रूप को देखकर अप्सरायें भी माहित हो जाती हैं और जिसके कर-पल्लव संसार को अभयदान देने की सामर्थ्य वाले हैं; ऐसे अद्भुत् रूप सौन्दर्य के लिए एक पुरुष श्मशान में कार्योत्सर्ग में लीन है।

उसका एकमात्र ध्येय मुक्ति-लक्ष्मी है। शेष सारा संसार इन क्षणों में उसे हेय है। पर उसके रूप की ख्याति सुनकर मुग्ध हुई वहाँ के राजा की रानी का चित्त महल में भी विकल हो रहा है। चतुर्दशी का दिन था। रात्रि आधी बीत गयी थी। श्मशान में निर्भय होकर तपस्या में लीन वह पुरुष अपने मनुष्य जीवन को सार्थक बना रहा है कि अचानक रानी की परिचारिका आकर कहती है कि हे सुन्दर पुरुष! मेरे साथ चलो। अभी यह तप करने का समय नहीं है। यह तो भोग-विलास का समय है। अपने सुकुमार शरीर को इस तरह कष्ट मत दो। उठो और जल्दी करो, रानी तुम्हें याद कर रही हैं। तुम्हें क्या इस बात की तनिक भी खबर नहीं है? वास्तव में वह पुरुष कान होते हुए भी जैसे सुनायी न पड़ा हो, ऐसा अपने में लीन अडिग है। ठीक भी है। परमार्थ के क्षेत्र में कान खुले रहना चाहिये; लेकिन विषय-भोग के क्षेत्र में तो कान बहरे ही होना चाहिये। परमार्थ के क्षेत्र में आँखें खुली रहनी चाहिये। और विषय-वासना के क्षेत्र में अन्धा होकर रहना चाहिये।

परमार्थ के क्षेत्र में कर्मों पर विजय पाने के लिए बाहुओं में शक्ति और प्रताप होना चाहिये, लेकिन दूसरे के ऊपर प्रहार करने के लिए बलहीन होना चाहिये। ऐसी ही अवस्था उस समय उस पुरुष की थी। जब दासी ने देखा कि यह तो अपने में अडिग है, तो उसने उसे पूर्व नियोजित योजना के अनुसार उठवाकर महलों में ले जाने का प्रबन्ध कर लिया और वह पुरुष रानी के महल में पहुँचा दिया गया।

वहाँ रानी सारे उपाय करके थक गयी पर वह पुरुष ध्यान से विचलित नहीं हुआ। एक तरफ वासना थी तो दूसरी ओर उपासना थी। एक तरफ निश्चल पुरुष था तो दूसरी ओर चञ्चल प्रकृति थी। जीत उसी की होती है जो अपनी इन्द्रियों और मन को जीतने में लगा होता है, जो अपने में लीन है, जो उपासना में लगा है अर्थात् अपने समीप आने में लगा है। ठीक भी है, अपने भीतर पहुँचने के उपरान्त तो अपना ही राज्य है, अपना ही देश है, अपना ही आदेश है और अपने ही सन्देश भी प्रचारित हो रहे हैं। (हँसी) वहाँ किसी बाहरी सत्ता का प्रवेश सम्भव कैसे हो सकता है?

उपासना के सामने वासना को घुटने टेकने ही पड़ेंगे। रानी ने घुटने टेक दिये फिर भी पुरुष ने स्वीकार नहीं किया। जहाँ श्रीकार हो वहाँ स्वीकार या नकार की बात कैसे सम्भव है? 'श्री' का अर्थ है अन्तरङ्ग लक्ष्मी अर्थात् अपना ही आत्म-वैभव। जो अपने आत्म-वैभव को पाने में लगा है वह बाह्य लक्ष्मी की चाह क्यों करेगा? अपने को हारता देखकर वासना बौखला गयी। वासना की मूर्ति बनी रानी ने अपने वस्त्र फाड़ लिये। अपने हाथों अपने ही शरीर को नोंच लिया और शोर मचाने लगी। राजा को खबर पहुँचायी गयी। राजा सुनकर क्रोधित हो गया। तब रानी और चीख-चीख कर रोने लगी। सभी को विश्वास हो गया कि यह सारी करामात इस पुरुष की है। यह ध्यान में लीन होने का ढोंग कर रहा है। यह सब मायाचारी है।

बन्धुओं! यह है दुनिया की दृष्टि। जो मायाचारी कर रहा है, वह सच्चा साबित हो रहा है और सत्य को झूठा बनाया जा रहा है, लेकिन अन्त में जीत सत्य की ही होती है। जब प्राणदण्ड के लिए उस पुरुष को शूली पर चढ़ाया जाता है तो देवता आकर शूली के स्थान पर फूलों की माला बना देते हैं। तब रहस्य खुलता है कि दोष इसका नहीं है, दोषी तो रानी है। यह पुरुष कोई और नहीं, अपने ही नगर का महान् चारित्रवान् नागरिक 'सेठ सुदर्शन' है। गृहस्थ होते हुए भी आस्था और आचरण में दृढ़ है। यही तो ब्रह्मचर्य धर्म के पालन में

सच्ची निष्ठा है। कि 'मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्' -यही वास्तव में वैराग्य है कि गृहस्थ भी परस्त्री को अपनी माता के समान मानता है और दूसरे के द्वारा सञ्चित धन सम्पत्ति को कङ्कर-पत्थर की तरह अपने लिए हेय समझता है।

महाराज जी (आचार्य ज्ञान सागर जी) कहा करते थे कि गृहस्थ को व्रत अवश्य लेना चाहिये। व्रत कोई भी छोटा नहीं होता। आज सुदर्शन सेठ का परस्त्री के त्याग का व्रत भी महाव्रत के समान हो गया। सभी ओर जय-जयकार होने लगी। सुदर्शन सेठ सोच में डूबे हैं कि देखो, कैसा वैचित्र्य है। मैं जिस शरीर से मुक्त होना चाह रहा हूँ, ससांर के लोग उसी शरीर को चाह रहे हैं। उसके क्षणिक सौन्दर्य से प्रभावित हो रहे हैं और अपने शाश्वत आत्म सौन्दर्य को भूल रहे हैं।

बन्धुओं! विचार करो कि एक अणुव्रती गृहस्थ श्रावक की दृढ़ता कितनी है। उसकी आस्था कितनी मजबूत है। उसका आचरण कैसा निर्मल है। पापों का एक देश त्याग करने वाला भी संसार से पार होने की क्षमता और साहस रखता है। जिसने एक बार अपने स्वभाव की ओर दृष्टि डाल दी, उसकी दृष्टि फिर विकार की ओर आकृष्ट नहीं होती।

एक घटना याद आ गयी। एक युवक विरक्त हो गया और घर से जङ्गल की ओर चल पड़ा। पिता उसके पीछे-पीछे चले जा रहे हैं कि अगर यह मान गया तो वापिस घर ले आयेंगे। रास्ते में एक सरोवर के किनारे कन्याएं स्नान कर रही थीं। युवक थोड़ा आगे था। अतः वह पहले निकल गया। तब वे स्त्रियाँ ज्यों की त्यों स्नान करती रहीं और जब पीछे उसके पिता को आते देखा तो सभी अपने वस्त्र सँभालने लगीं। पिता चकित होकर रुक गया और उसने पूछा कि बात क्या है? अभी-अभी मेरा जवान बेटा यहाँ से निकला था, तब तुम सब पूर्ववत् स्नान करती रहीं, लेकिन मैं इतना वृद्ध हूँ फिर मुझे देखकर क्यों लज्जावश अपने वस्त्र सँभालने लगीं। वे कन्याएँ समझदार थीं, बोलीं-बाबा। यह जवान था और आप वृद्ध हैं, यह हम नहीं जानते। हम तो दृष्टि की बात जानते हैं। वह अपने में खोया था, उसकी दृष्टि में पुरुष या स्त्री का भेद ही नहीं था। वह तो सब कुछ देखते हुए भी मानों कुछ नहीं देख रहा था। लेकिन आपकी दृष्टि में अभी ऐसी वीतरागता नहीं आयी। आपको तो अभी भेद दिखायी दे रहा है।

कहीं एक कविता पढ़ी थी उसकी कुछ पँक्तियाँ मुझे बहुत अच्छी लगीं। पूरी तो ध्यान नहीं है, प्रसङ्गवश सुनाता हूं...'अभी तुमने/आग के रङ्ग के/ कपड़े पहने हैं/ योग की आग में/ तुम्हारा काम अभी/पूरा जला नहीं है/ अभी

तुम्हें/स्त्री और पुरुष के बीच/ फर्क नजर आता है/ स्त्री के पीछे भागना/ और स्त्री से दूर भागना/ बात एक ही है/ जब तक ये यात्रा जारी है/ समझो अभी/ संन्यास की यात्रा शुरू नहीं हुई।

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने नियमसार में कहा है कि-

दट्ठूण इच्छिरूवं वांछाभावं णिवत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जिय परिणामो अहव तुरीयवदं॥[9]

स्त्रियों के रूप को देखकर उनके प्रति वांछा भाव की निवृत्ति होना अथवा मैथुन-संज्ञा रहित जो परिणाम हैं, वह चौथा ब्रह्मचर्य व्रत है। अर्थात् परिणामों की उज्ज्वलता ब्रह्मचर्य के लिए बहुत आवश्यक है।

देखना भी दो प्रकार से हो सकता है। एक देखना तो सहज भाव से होता है, वीतराग भाव से होता है तो दूसरा विकार भाव से या राग-भाव से देखना होता है। वीतरागी के परिणामों में जो निर्मलता आती है, उस पर फिर किसी विकार का प्रभाव नहीं पड़ता। जो विकार से बचना चाहता है उसका कर्तव्य सर्वप्रथम यही है कि वीतरागता की ओर वह दृष्टि-पात करे। स्वभाव की ओर देखे, केवल संन्यास-व्रत धारण करना या स्वाध्याय करना ही पर्याप्त नहीं है। अपने उपयोग की सँभाल प्रतिक्षण करते रहना भी आवश्यक है। अपने उपयोग की परीक्षा हमेशा करते रहना चाहिये कि उसमें कितनी निर्मलता और दृढ़ता आयी है। उपयोग की निर्मलता और दृढ़ता के सामने तीन-लोक की सम्पदा भी फीकी लगने लगती है। उपयोग को विकारों से बचाकर, राग से बचाकर वीतरागता में लगाना चाहिए; यही ब्रह्मचर्य धर्म है।

ब्रहामचर्य धर्म-

1. स्वयंभूस्तोत्र-93
2. भक्तामर स्तोत्र-15
3. तत्त्वार्थसूत्र-7/12
4. युक्त्यनुशासन-6
5. समयसार-152
6. निजानुभव-शतक-49
7. छहढाला (छठवीं ढाल 13)
8. मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
   आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥
9. नियमसार-59

□□

पारिभाषिक -शब्द-कोष

(आचार्य विद्यासागर जी महाराज के प्रवचनों में,
आये विशिष्ट शब्दों का पारिभाषिक अर्थ)

अन्तरात्मा- आत्मा और शरीर के बीच भेद रेखा जानने वाला भेद विज्ञानी जीव।

अन्तर्मुहूर्त- आवली (असंख्यात समय) से अधिक और मुहूर्त (48 मिनिट) से कम काल का सूचक।

अकाम निर्जरा- बेमन से किये गये विषय सुख के परित्याग और मजबूरीवश भोगोपभोग का निरोध हो जाने पर उसे शान्ति से सह लेने से होने वाली कर्म निर्जरा।

अणुव्रत- अहिंसा, सत्य अचौर्य, अकाम (ब्रह्मचर्य) और अपरिग्रह; इन पाँच व्रतों का आंशिक पालन।

अधर्म- एक द्रव्य जो जीव और पुद्गल को ठहरने में सहायक है। यदि जीव और पुद्गल रुकना चाहें तो यह द्रव्य एक माध्यम की तरह मौजूद रहता है।

अर्धचक्री- तीन खण्डों का अधिपति। नारायण या प्रतिनारायण। ज्ञातव्य है कि भरत क्षेत्र के समूचे छह खण्डों के अधिपति को चक्रवर्ती कहते हैं।

अनन्तानुबंधी- अनन्त संसार के कारण-भूत मिथ्यात्व को बाँधने वाली क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय।

अप्रत्याख्यान (अप्रत्याख्यानावरण)- देश संयम की प्रतिपक्षी कषाय। जिसके उदय से आंशिक संयम को यह जीव प्राप्त करने में असमर्थ होता है।

अभिषेक- परम पद में स्वयं को अभिषिक्त करने की पवित्र भावना से अर्हन्त आदि की प्रतिमा को अभिषिक्त करने की प्रक्रिया। (जल, दुग्ध, दधि, चन्दन, केशर आदि सुगन्धित औषधियों से कराया गया स्नान)।

अभेद, रत्नत्रय- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र द्वारा समाहित-विकल्प-जाल से मुक्त, अपने चैतन्य, आनन्दमय स्वरूप में विश्रान्त आत्मा की दशा।

असंख्यात-गुणी-निर्जरा- निर्जरा की प्रक्रिया में उदयावली में निर्जरा के लिए दिये जाने वाले द्रव्य को उदयावली में देने से पूर्व एक अन्तर्मुहूर्त तक के लिए असंख्यात गुणे क्रम से संयोजित करके निर्जरित करना।

असंज्ञी- मन-रहित, जीव, मन के अभाव में शिक्षा, उपदेश आदि ग्रहण करने व विचार तर्क आदि करने में असमर्थ जीव।

आकाश- सभी द्रव्यों को ठहरने के लिए अवकाश देने वाला द्रव्य जो अखण्ड और शाश्वत है।

आचार्य- साधुओं को दीक्षा-शिक्षा देने वाले, 36 गुणों से विशिष्ट, साधुसंघ के अनुशास्ता।

आप्त- समस्त पदार्थों के ज्ञाता, परम हितोपदेशी, निर्दोष, अर्हत् परमात्मा।

आत्मा- अनन्तगुणों से युक्त ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाली चैतन्य शक्ति।

आदान-निक्षेपण-समिति- ज्ञान, संयम और शुद्धि के साधक उपकरणों को देख-भालकर सजग, शान्त भाव से उठाना, रखना।

आदिनाथ- जैनधर्म के वर्तमानकालीन प्रथम तीर्थङ्कर, जो वेदों में आदिब्रह्मा हैं। जन्म-अयोध्या, चैत्र कृ. 9, निर्वाण-कैलास पर्वत, माघ कृ. 14, आयु 84 लाख पूर्व, अन्तिम कुलकर (मनु) नाभिराय के पुत्र। प्रथम चक्रवर्ती भरत के पूज्य पिता। प्रजा को कृषि आदि कर्म सिखाने वाले प्रजापति।

आरम्भ- प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने वाली प्रवृत्ति/प्रक्रिया।

आराधना- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्; तप इन चारों का यथायोग्य रीति से दृढ़तापूर्वक धारण करना और जीवन भर पालन करना।

आवश्यक- साधु और श्रावक को आत्मानुशासित बनाने के लिए नित्य किया जाने वाला कार्य/कर्त्तव्य। साधु के लिए- सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, वन्दना, स्तुति, कायोत्सर्ग। श्रावक के लिए- देव पूजा, गुरु की उपासना, शास्त्र का अध्ययन, संयम, तप एवं दान।

इन्द्रियाँ- शरीरधारी जीव को जानने के साधन-चिन्ह, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण।

ईर्या-समिति- मुनियों के द्वारा सूर्य के प्रकाश में आवागमन के योग्य (जीवाणु-रहित) मार्ग में सजग-शान्त भाव से चार हाथ जमीन आगे देखकर गमन करना।

उत्तम संहनन- श्रेष्ठ मुक्ति के योग्य शरीरगत ध्यान साधना में निमित्तभूत अस्थियों का बन्धन विशेष। प्रथम संहनन-वज्रवृषभनाराच संहनन।

उपयोग- चेतना का अनुगामी ज्ञान-दर्शनात्मक आत्मा का परिणाम।

उपशम- जैसे फिटकरी डालने से मैले पानी का मैल नीचे बैठ जाता है और जल कुछ देर के लिए निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार परिणामों की विशुद्धि से कर्मों की शक्ति का प्रकट न होना उपशम है।

उपसर्ग- साधु/संयमीजनों पर देवों, मनुष्यों, पशुओं या प्रकृति द्वारा अनायास आने वाली शारीरिक मानसिक बाधा/कष्ट विपत्ति।

उपाध्याय- रत्नत्रय से युक्त, निर्ग्रन्थ, 25 विशिष्ट गुणों के धारक, जिनोपदेशित तत्त्वों के उपदेशक और मुनियों के अध्येता।

उपादान- जो द्रव्य तीनों कालों में अपने रूप को कथञ्चित् नहीं छोड़ता हुआ पूर्वरूप से या अपूर्व रूप से परिणमन करता है, वह उपादान कारण है।

उपादेय- वार-बार ऐसा चिन्तन करना कि जन्म, जरा और मरण के महादु:ख का अनुभव करने के लिये अकेला मैं ही हूँ। मेरा कोई साथी इन दु:खों से मुझे बचा नही पाता। कोई साथ श्मशान से आगे नहीं जाता। अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल भोगने वाला मैं अकेला हूँ। धर्म ही एकमात्र साथी है।

एकान्त- अनेक धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म/ पक्ष का सर्वथा अवधारण करके शेष धर्मों को नहीं मानना मिथ्या एकान्त है। जैसे किसी व्यक्ति को सर्वथा पिता ही मानना। वस्तु के अनेक धर्मों को जानते हुए मुख्य रूप से किसी अपेक्षावश एक धर्म को ग्रहण करना सम्यक् एकान्त है। जैसे-किसी व्यक्ति को पुत्र की अपेक्षा पिता मानना।

एषणा- सजग/शान्त भाव से निर्दोष और प्रासुक आहार ग्रहण करना।

कर्म-चेतना- ऐसा अनुभव करना कि मैं इसे करता हूँ, पर पदार्थों में कर्तृव्य बोध सहित अशुद्ध चेतना।

कर्म- जो जीव को परतन्त्र करे। जैन-दर्शन में जीव में होने वाले रागद्वेष, क्रोधादि भाव-भाव कर्म कहे गये हैं और इन रागादि भावों के द्वारा आत्मा के साथ संश्लिष्ट होने वाले पुद्गल कर्मों को द्रव्य कर्म माना गया है।

कल्पकाल- 20 करोड़ गुणा करोड़ सागर प्रमाण काल, एक अवसर्पिणी- और एक उत्सर्पिणी से मिलकर बनने वाली अवधि।

कषाय- आत्मा के स्वाभाविक रूप का विघात करने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ रूप परिणाम।

कार्तिकेयानुपेक्षा- आचार्य कुमार कार्तिकेय द्वारा रचित वैराग्य भावनाओं/अनुप्रेक्षाओं का प्रतिपादक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ।

काल- एक निष्क्रिय सूक्ष्म द्रव्य जिसके माध्यम से सभी द्रव्य परिवर्तन करते हैं। जो लोक के समस्त प्रदेशों पर कालाणु के रूप में उपस्थित हैं। वह निश्चय काल है। घड़ी, घण्टों, दिन-रात, ऋतु, वर्ष आदि रूप व्यवहार काल हैं। काल की न्यूनतम इकाई समय है।

कुन्दकुन्द- ईसा की पहली शती में हुए दिगम्बर जैन आम्नाय के प्रधान/श्रेष्ठ आचार्य। वे अध्यात्मवेत्ता और परम तपस्वी थे। तप के प्रभाव से उन्हें चारण ऋद्धि प्राप्त हुई थी। वे ग्रन्थराज समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय, अष्टपाहुड, मूलाचार आदि 84 प्राभृतों के प्रणेता थे।

जिनसेन- वीरसेन स्वामी के शिष्य। आदिपुराण, पार्श्वाभ्युदय एवं वर्धमान पुराण के रचयिता दिगम्बर जैनाचार्य ।

जीव- जो जानता है, देखता है और चेतना का धनी है; ऐसा जीवनगुण से युक्त तत्त्व। जैनदर्शन में जीव, प्राणी, पुरुष, आत्मा ये सभी एकार्थवाची (सिनॅनिम्स्) हैं।

तत्त्व- जिस वस्तु का जो भाव है वह तत्व है। जो पदार्थ जिस रूप में अवस्थित है उसका उसी रूप में होना यही तत्त्व शब्द का अर्थ है।

तीर्थङ्कर- संसार सागर को स्वयं पार करने वाले तथा दूसरे जीवों को पार कराने वाले महापुरूष, जिनके गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञानोत्पत्ति और निर्वाण इन पाँच अवसरों पर महान्, उत्सव (कल्याणक) होते हैं। जो समवशरण सभा में जगत् के कल्याण का उपदेश देते हैं और धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।

तैजस-ऋद्धि- विशिष्ट तपश्चरण के प्रभाव के संयम के धारी महामुनि के लिए जीवों के अनुग्रह या विनाश में समर्थ दीप्तिमान शरीर का उत्पन्न होना।

दर्शन-मोहनीय- जिसके उदय से आप्त, आगम और साधु के प्रति श्रद्धा भाव नहीं हो पाता अथवा तत्त्व के वास्तविक स्वरूप के प्रति रुचि जागृत नहीं हो पाती।

दिव्य-ध्वनि- केवलज्ञान उत्पन्न होने के उपरान्त अर्हन्त/तीर्थङ्कर भगवान के सर्वाङ्ग/श्रीमुख से सहज निखरने वाली ओंकार ध्वनि। जो सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छह द्रव्य और पाँच अस्तिकाय रूप सत्य धर्म को प्ररूपित करती है।

दीक्षा (प्रव्रज्या)- संसार से विरक्त होकर, गुरु की शरण में जाकर, समस्त परिग्रह का त्यागकर, यथाजात रूप प्राप्त कर, समता भाव से जीवन बिताने के लिए सङ्कल्पित होना।

देवागम स्तोत्र (आप्तमीमांसा)- तत्वार्थ सूत्र के मङ्गलाचरण पर आचार्य समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित ११५ संस्कृत श्लोकबद्ध न्यायग्रन्थ।

देश-संयम (संयमासंयम)- संयम का अंशतः पालन करना। अर्थात् हिंसादि पाँच-पापों का स्थूल रूप से त्याग करना।

द्वीपायन मुनि- रोहिणी के भाई, बलदेव के मामा। भगवान नेमिनाथ से यह सुनकर कि द्वारिका उनके द्वारा जलेगी तो वे विरक्त होकर मुनि हो गये। कठिन तपश्चरण द्वारा तैजस ऋद्धि प्राप्त हो गयी। भ्रान्तिवश बारह वर्ष से कुछ पहले ही द्वारिका देखने आये। नगर से बाहर मदिरा पीने से उन्मत हुए यादवों द्वारा कहे गये अपशब्द, भर्त्सना और पत्थरों की मार से क्रोधवश तेजस समुद्घात द्वारा द्वारिका भस्म करने में निमित्त बने। भावीकाल के चौबीस तीर्थङ्करों में स्वंयभू नाम के १९वें तीर्थङ्कर होंगे।

द्वेष- अनिष्ट पदार्थों में अप्रीति होना, किसी भी पदार्थ को बुरा मानना यह द्वेष है।

धर्म द्रव्य- जीव और पुद्गल को चलने में सहायक एक निष्क्रिय शाश्वत माध्यम, जो ईथर की तरह पूरे आकाश में व्याप्त है।

निःकांक्षित अङ्ग- सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गों में से एक अङ्ग, क्षणिक/सांसारिक प्रलोभन से दूर रहने का भाव होना।

निगोद- जो अनन्त जीवों को एक ही निवास दे वह निगोद है। निगोदिया जीव वे हैं जो स्वयं अनन्तानन्त जीवों की कालोनी/उपनिवेश होते हैं। जहाँ एक के मरण से सभी का मरण हो जाता है। वे सर्वत्र लोक में रहते हैं।

निमित्त- प्रत्यय/कारण, कार्य की उत्पत्ति में साधकतम ।

नियमसार- आचार्य कुन्दकुन्द कृत अध्यात्म विषयक १८७ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध शुद्धात्मस्वरूप का प्रदर्शक ग्रन्थ।

निर्जरा- कर्मों के आत्मा से आंशिक पृथक्करण की प्रक्रिया। अपने

समय पर स्वयं कर्मों का उदय में आना और झड़ जाना सविपाक निर्जरा है। जैसे फल का पककर आपोआप वृक्ष से टूटकर गिर जाना। तपस्या के द्वारा समय से पहले ही कर्मों का झड़ जाना अविपाक निर्जरा है। जैसे माली के द्वारा आम तोड़कर पाल में पकाना।

निर्विकल्प-समाधि- समस्त शुभ-अशुभ/विकल्पों से मुक्त, आत्म-ध्यान में लीन, वीतराग अवस्था।

नेमिनाथ- जैनों के बाइसवें तीर्थङ्कर, श्रीकृष्ण इनके चचेरे भाई थे। पिता समुद्रविजय और माँ शिवा देवी, जन्म श्रावण शुक्ला ६, द्वारावती निर्वाण आषाढ़ कृष्णा ८, ऊर्जयन्त गिरि (गिरनार)।

नो कर्म- शरीर एवं अन्य बाह्य पुद्गल द्रव्य, कर्म के उदय से होने वाला औदारिक शरीर आदि पुद्गल परिणाम जो आत्मा के सुख-दुःख के वेदन में सहायक होता है, नोकर्म कहलाता है।

पञ्चमगति- मोक्ष/सिद्ध दशा। चार गतियों रूप संसार परिभ्रमण से पार।

पद्मनन्दी पञ्चविंशति- आचार्य पद्मनन्दी द्वारा संस्कृत छन्दों में रचित मुख्यतः गृहस्थ धर्म का प्ररूपक ग्रन्थ।

परम औदारिक शरीर- निर्दोष, शुद्ध स्फटिक के समान सात धातुओं के विकार से रहित तेज मूर्तिमय केवली भगवान का शरीर।

परमात्मा- कर्मकलङ्क से मुक्त आत्मा/परम पद अर्थात् अर्हन्त रूप में स्थित आत्मा।

परमार्थ- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार पुरुषार्थों में परम उत्कृष्ट मोक्ष पुरुषार्थ है। मोक्ष पुरुषार्थ ही जिसका प्रयोजन है वह परमार्थ है।

परमेष्ठी- जो परमपद (मोक्ष) में स्थित हैं या परमपद के प्रति निष्ठावान होकर जैसे प्राप्त करने के मार्ग में स्थित हैं। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये पाँचों परमेष्ठी हैं।

परिग्रह- मूर्च्छाभाव, पर पदार्थों के प्रति स्वामित्व की आकांक्षा। यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ, -इस प्रकार का ममत्व भाव।

परीषह-जय- सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि बाधाएं आने पर भी अपने आत्म-चिन्तन में अविचल रहकर कर्म-निर्जरा के लिए उन्हें शान्त भाव से सहन करना।

पर्याय- द्रव्य में प्रतिक्षण होने वाला स्वभाव/विभाव रूप परिणमन/परिवर्तन।

पुण्य- जो आत्मा को पवित्र करे या जिसके द्वारा आत्मा पवित्र हो। दानादि क्रियाओं द्वारा अर्जित किया जाने वाला शुभ-कर्म।

पुद्गल- पूरण-गलन स्वभाव वाला मूर्तिक जड़ पदार्थ जिसका अन्तिम घटक/अविभागी कण परमाणु है।

पूजा- अर्हन्तादि का नाम उच्चारित करके विशुद्ध प्रदेश में पवित्र भावों से जल, चन्दन आदि अष्ट द्रव्यों का क्षेपण करना, अपने अहंकार का विसर्जन करना, या भगवान के गुणों का चिन्तन करना।

पूज्यपाद- आप नन्दिसंघ की पट्टावलि के अनुसार यशोनन्दि के शिष्य थे। असली नाम देवनन्दि था। चूंकि आपके पाद-प्रक्षालन के जल से स्पर्श से लोहा, स्वर्ण बन जाता था और पाँवों में गगनगामी लेप के प्रभाव से विदेह क्षेत्र जाने की सामर्थ्य रखते थे, अतः आपका नाम 'पूज्यपाद' पड़ा। प्रखर-प्रज्ञा के प्रभाव से देवों के द्वारा पूजित चरण होने से भी पूज्यपाद कहलाते थे आप लक्षण बनाने में निष्णात, जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, इष्टोपदेश, समाधितन्त्र आदि संस्कृत ग्रन्थों के रचयिता महान् दिगम्बर जैनाचार्य थे।

प्रतिष्ठान-समिति- एकान्त(निर्जन), ग्राम से दूर, छिद्ररहित, निर्विरोध और विशाल, ऐसे अचित्त, जीवाणु रहित स्थान में अपने शरीर के मलमूत्र आदि का सजग/शान्त भाव से विसर्जन करना।

प्रत्याख्यान (प्रत्याख्यानावरण)- सकल संयम की प्रतिपक्षी कषाय जिसके उदय में यह जीव संयम/परिपूर्ण विरति को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो पाता।

प्रभावना- ज्ञान सूर्य की प्रभा से, महा उपवास आदि सम्यक् तपों से और भव्यजन रूपी कमलों को विकसित करने वाले सूर्य की प्रभा के समान जिन-पूजा के द्वारा सच्चे धर्म का प्रकाश करना। या रत्नत्रय के प्रभाव से आत्मा को प्रकाशमान करना।

प्रमाण- स्व-पर-प्रकाशक सम्यग्ज्ञान, जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है। वही प्रमाण है।

प्राण- जीव की चेतना-शक्ति जिसके द्वारा वह/जीता है।

बहिरात्मा- मिथ्यात्व और रागद्वेष आदि से मलिन आत्मा की अवस्था, इस दशा में जीव, आत्मा और देह की बीच कोई भेद रेखा नहीं मानता। वह देह को ही आत्मा मानता रहता है।

बारह भावना (अनुप्रेक्षा)- वैराग्य-बुद्धि के लिए बार-बार चिन्तवन की जाने वाली भावनाएं।

बाहुबली- आदिब्रह्मा तीर्थङ्कर ऋषभदेव के पुत्र, प्रथम चक्रवर्ती भरत के छोटे भाई। पोदनपुर के राजा। अपने ही भाई चक्रवर्ती भरत को युद्ध में परास्त करके विरक्त हो गये। दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण करके एक वर्ष तक प्रतिमा योग धारण किया और कैवल्य को प्राप्त करके, तीर्थङ्कर ऋषभदेव से पहले मोक्षगामी हुए।

बोधपाहुड- आचार्य कुन्दकुन्द कृत ६२ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध ग्रन्थ। अष्ट पाहुड में से एक पाहुड।

भाषा-समिति- सजग और शान्त भाव से हित, मित और प्रिय वचन बोलना।

भोगोपभोग- एक गुणव्रत, जो अणुव्रत के गुणों में वृद्धि करता है। इसमें भोग और उपभोग की सामग्री का परिमाण (लिमिटेशन) करना होता है। जो पदार्थ एक बार उपयोग किये जाने के उपरान्त पुनः उपयोग के योग्य नहीं होते, वे भोग पदार्थ कहे जाते हैं। जैसे-भोजन आदि। जो पुनः पुनः उपयोग में आते रहते हैं वे उपभोग पदार्थ कहे जाते हैं। जैसे वस्त्र आभूषण आदि।

महापुराण- आचार्य जिनसेन कृत कलापूर्ण संस्कृत काव्य। जिसमें भगवान ऋषभदेव तथा भरत-बाहुबली आदि का चरित्र वर्णित है।

महाव्रत- जीवन भर पाँच पापों से विरक्त रहने का संकल्प, महान तीर्थङ्करों के द्वारा इनका पालन किया गया, महान् मोक्ष में कारणभूत और स्वयं ही त्याग रूप होने से महान् (पूज्य) हैं, इसलिये इन्हें महाव्रत कहा गया।

माध्यस्थ भाव- रागद्वेषपूर्वक पक्षपात से रहित भाव, एक गहरी तटस्थता।

मानतुङ्ग- काशीवासी धनदेव ब्राह्मण के पुत्र। पहले श्वेताम्बर साधु रहे फिर बाद में दिगम्बर दीक्षा लेकर भक्ति-विभोर भगवान ऋषभदेव की स्तुति करते हुए भक्तामर स्तोत्र की रचना की।

मुमुक्षु- परिग्रह-त्याग, मोक्ष की इच्छा करने वाला, संसार से विरक्त, जिनदीक्षा धारणकरने वाला, भव्यात्मा।

मोक्षमार्ग- सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है।

मोह- जो मदिरा के नशे की तरह प्राणी को वस्तु की वास्तविकता का बोध न होने दे, वह मोह है।

युक्त्यनुशासन- आचार्य समन्तभद्र-स्वामी-कृत न्याय और युक्तिपूर्वक जिनशासन की स्थापना करने वाला संस्कृत छन्दों (६५ श्लोक) में निबद्ध ग्रन्थ।

योग- मन, वाणी और शरीर के निमित्त से होने वाला आत्म-प्रदेशों का हलन-चलन जो कर्मों के आगमन में कारण बनता है।

रत्नत्रय- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यही तीनों गुण रत्नत्रय कहलाते हैं।

राग- इष्ट विषय भोगों के प्रति आसक्ति होना। किसी पदार्थ के बाबत यह अच्छा है, ऐसा भाव होना राग है।

लोक- छह द्रव्यों से व्याप्त आकाश लोक हैं जहाँ पुण्य-पाप का फल और सुख-दुःख दिखायी देते हैं।

वीतरागी- ज्ञाता-दृष्टा भाववाले, रागद्वेष से सहित साम्य अवस्था वाले साधु का विशेषण।

विजयार्ध पर्वत- चक्रवर्ती के विजय की आधी सीमा निर्धारित करने वाला पर्वत, जो प्रत्येक कर्मभूमि में एक होता है।

वृषभगिरि- भरतक्षेत्र आदि के छह खण्डों में उत्तर भरत क्षेत्र के तीन म्लेच्छ खंडों में से मध्यखण्ड के मध्य भाग में स्थित चक्रवर्ती के मान को खण्डित करने वाला विभिन्न चक्रवर्तियों के नामों से व्याप्त पर्वत।

शान्तिनाथ- जैनों के १६ वें तीर्थङ्कर, जो चक्रवर्ती एवं कामदेव भी थे, जन्म-हस्तिनागपुर, ज्येष्ठ कृष्णा १४, निर्वाण-सम्मेद शिखर, ज्येष्ठ कृष्णा १४ । आयु-एक लाख वर्ष।

शुभचन्द्र- दिगम्बर जैन आचार्य। राजा मुञ्ज और भर्तृहरि के भाई। जैन ध्यान-योग पर विस्तृत विवेचन करने वाले ज्ञानार्णव ग्रन्थ के रचयिता।

शुभोपयोग- सराग चारित्र या अपहृत संयम, धर्मानुराग से युक्त चेतना, उपयोग की शुभ परिणति, जो अर्हन्तों को जानता है, सिद्धों और साधुओं के प्रति श्रद्धा भाव रखता है और जीवों के प्रति अनुकम्पा से युक्त है, वह शुभोपयोगी है।

शुद्धोपयोग- वीतराग चारित्र या परम उपेक्षा संयम, उपयोग की निरूपराग दशा, पदार्थों और सूत्रों को भलीभाँति जानने वाला। संयम और तप से युक्त वीतरागी, सुख-दुःख में साम्य भाव रखने वाला श्रमण शुद्धोपयोगी है।

श्रमण- संसार से विरक्त होकर विवेक पूर्वक दिगम्बर यथाजात रूप धारण करने वाले अपरिग्रही, विषय भोगों से मुक्तज्ञान-ध्यान में लीन मुनि।

श्रावक- सच्चे देव, गुरू, शास्त्र के प्रति श्रद्धा युक्त होकर धर्म-श्रवण करने वाला, विवेकवान और दान, पूजा शील व उपवास रूप क्रिया में निष्णात पञ्चम गुणस्थानवर्ती आत्मा।

श्रुतकेवली- आगमज्ञ, आत्मज्ञ, सर्व श्रुतज्ञान के धारण करने वाले या आचार्य वस्तु भाव या अष्ट प्रवचन मातृका रूप द्रव्य श्रुत से युक्त होकर अपनी शुद्धात्मा को जानने/अनुभवन करने वाले महामुनि।

संज्वलन- यथाख्यात चारित्र को घात करने वाली कषाय। जिसके उदय में सकल संयम बना रहता है।

संवर- गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र के माध्यम से जितने कषाय और मन-वचन-काय की क्रिया को रोक लिया है, ऐसी आत्मा के नवीन कर्मों का आगमन रूक जाना ही संवर है।

संवेग- धर्म में निरन्तर हर्ष और सात्विक भाव होना तथा संसार को दु:खमय जानकर निरन्तर बचने का भाव बनाये रखना।

सकल-संयम- समस्त पापों से विरक्त महाव्रतों से युक्त मुनियों का आचरण।

सत्- स्वत: सिद्ध अस्तित्व का वाचक, जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वह सत् है।

सत्पात्र- मोक्ष के कारणभूत गुणों से संयुक्त आत्मा। दान आदि देने योग्य मोक्षमार्गी भव्य जीव।

सप्तधातुएं- शरीर में क्रम-क्रम से बनने वाले शरीर के पोषक तत्व रस, रक्त, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और शुक्र। इनकी उपधातुएँ वात, पित्त, श्लेष्म, सिरा, स्नायु, चर्म और उदराग्नि।

समता (साम्य)- जीवन मरण, संयोग-वियोग, प्रिय-अप्रिय, सभी प्रसंगों में सम-भाव रखना/संतुलित रहना। सभी जीवों के प्रति सद्भाव-समभाव रखना।

समन्तभद्र- जैन दर्शन के मर्मज्ञ, तार्किक और वाग्मी दिगम्बर जैनाचार्य, उरगपुर के नागवंशी चोल नरेश शान्ति वर्मन के कनिष्ट पुत्र, क्षत्रिय कुलोत्पन्न। आगामी तीर्थङ्कर होने के प्रमाण मिलते हैं।

समयसार- आचार्य कुन्दकुन्द कृत महान् आध्यात्मिक-कृति। प्राकृत-गाथा सूत्रों में निबद्ध जैन-अध्यात्म के रहस्यों को उद्घाटित करने वाली अद्भुत कृति।

समवशरण- सभी जीवों को समान रूप से शरण देने वाली तीर्थङ्कर भगवन्तों की धर्म-सभा। जहाँ सभी प्राणी समान रूप से बैठकर दिव्य-ध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हैं, श्रवण करते हैं।

समिति- आवश्यक क्रियाओं को यत्नपूर्वक जीवों की रक्षा करते हुए, सम्यक् प्रकार से, सजग/शान्त भाव से करना।

सम्यक् चारित्र- समीचीन आचरण, व्रत, समिति आदि का पालन करना व्यवहार चारित्र है और आत्म स्वरूप में स्थिति रूप समताभाव निश्चय चारित्र हैं।

सम्यग्ज्ञान- परमात्व-तत्त्व का बोध, जिस प्रकार से जीवादि तत्त्व/पदार्थ अवस्थित हैं, उस-उस प्रकार से उनका जानना सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शन- समीचीन श्रद्धा, जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदेशित सात तत्त्वों के प्रति रुचि या परमात्म तत्त्व के प्रति रुचि/आस्था या सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के प्रति समीचीन श्रद्धा/रुचि।

सर्वज्ञ- केवल ज्ञान से युक्त, समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायों को जानने वाले, जीवन्मुक्त, परम योगी।

सर्वार्थसिद्धि- दिगम्बर जैनाचार्य देवनन्दि पूज्यपाद स्वामी विरचित संस्कृत ग्रन्थ, जिसमें तत्त्वार्थ सूत्र का विशद विवेचना की गयी है।

सर्वार्थसिद्धि- देवों में सर्वश्रेष्ठ अनुत्तर विमानों में से एक विमान। जहाँ उत्पन्न होने वाले देव आगामी मनुष्य भव में आत्मसाधना के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

साधु- मोक्ष प्राप्ति में सहयोगी विशिष्ट गुणों से युक्त, आत्म-साधना में निमग्न, प्राणिमात्र के प्रति सद्भाव रखने वाले, विषय-वासना से मुक्त, निरारम्भ, अपरिग्रही, निर्ग्रंथ, यथाजात रूपधारी, ज्ञान-ध्यान में लीन योगी/महात्मा।

सुमेरु पर्वत- मध्यलोक में स्थित सर्वाधिक ऊँचे शाश्वत पर्वत। सुमेरु पर्वत संख्या में पाँच हैं। प्रत्येक पर्वत पर १६ जैन मन्दिर हैं।

सामायिक- समता भाव, एक निश्चित समय के लिए रागद्वेष और पाप-भाव से मुक्त होकर आत्म-ध्यान या परमात्मा के स्मरण में लीन रहना सामायिक है।

सिद्ध- आत्मा की समस्त कर्मों से रहित और ज्ञान, दर्शन और अनन्त गुणों से युक्त परम विशुद्ध दशा।

सिद्धशिला- सिद्धभूमि, अष्टम-पृथ्वी, ईषत् प्राग्भार-पृथ्वी, सर्वार्थसिद्धि विमान के ध्वजदण्ड से १२ योजन ऊपर स्थित निष्कम्प/अचल शाश्वत स्थली जहाँ सिद्ध भगवान विराजते हैं। यह लोक का सीमान्त प्रदेश है।

स्वभाव- प्रत्येक वस्तु का अपना निजी आंतरिक भाव। या कहें कि अपने असाधारण धर्म (गुण) के साथ होना ही वस्तु का स्वभाव है। प्रकृति, धर्म, गुण, शील, स्वभाव में पर्यायवाची (सिनॉनिम्स) हैं।

सौधर्म स्वर्ग- सोलह स्वर्गों में प्रथम स्वर्ग, जहाँ देवों की सभा का नाम सुधर्मा-सभा और इन्द्र का नाम सौधर्म-इन्द्र है।

स्वयम्भूस्तोत्र- आचार्य समन्तभद्र कृत संस्कृत छन्दबद्ध ग्रन्थ, जिसमें चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति जैन न्याय/दर्शन और अनेकान्त की स्थापना करते हुए की गयी है।

स्वर्ग- ऊर्ध्वलोक में स्थित वैमानिक देवों के कल्प और कल्पातीत विमान। सोलह स्वर्ग रूप कल्प विमान हैं। इनके उपरान्त नव ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर ये सभी कल्पातीत विमान हैं।

स्वाध्याय- सत्-शास्त्र का वचन, चिन्तन, मनन, स्मरण और प्रवचन ही स्वाध्याय है। आलस्य का त्याग करके अपनी आत्मा का हित करने वाले ज्ञान/अध्ययन को स्वाध्याय कहते हैं।

ज्ञान चेतना- निर्विकल्प ज्ञानानुभूति रूप चेतना की शुद्ध अवस्था, जो सिद्ध जीवों में पायी जाती है।

ज्ञानार्णव- आचार्य शुभचन्द्र द्वारा संस्कृत श्लोकों में रचित एक ध्यान विषयक ग्रन्थ।

ज्ञानसागर- आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज के प्रथम मुनि शिष्य और आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के दीक्षा-शिक्षा-गुरु।

क्षय- कर्मों का आत्मा से सर्वथा पृथक् हो जाना क्षय कहलाता है।

□□

पावन प्रवचन

कलकत्ता, जयपुर एवं खुरई नगर में आयोजित धर्मसभा में हुए तीन विशिष्ट प्रवचनों का संग्रह

संपादन: मुनि श्री समतासागर

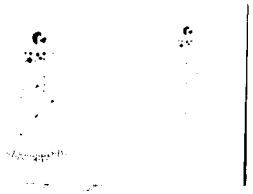

धर्म : आत्म-उत्थान का विज्ञान

□ **पवित्र संस्कारों के द्वारा ही पतित से पावन बना जा सकता है। जो व्यक्ति पापों से अपनी आत्मा को छुड़ाकर केवल विशुद्ध भावों के द्वारा अपनी आत्मा को संस्कारित करता है, वही संसार से ऊपर उठकर मोक्षसुख को पा पाता है। धर्म इसी आत्म-उत्थान का विज्ञान है।**

विश्व में अनेक धर्म प्रचलित हैं। इस सभी धर्मों में एक धर्म वह भी है जो प्राणीमात्र के लिए पतित से पावन बनने का मार्ग बताता है। उस धर्म का नाम है- "जैनधर्म।"

जैन धर्म प्राणीमात्र के कल्याण की भावना रखने वाला धर्म है। आज इस धर्म की उपासना करने वाले और इसके अनुरूप अपना जीवन बनाने वाले साधक बहुत बिरले हैं। धर्म के प्रचारक और प्रसारक बहुत है। जो अपनी सारी शक्ति प्रचार-प्रसार में लगा देते हैं। स्वयं को पतित से पावन बनाने का प्रयास नहीं करते। हमारा प्रथम कर्त्तव्य यही है कि हम स्वयं पाप से ऊपर उठें, स्वयं पतित से पावन होने का प्रयास करें।

इस कलियुग में पुण्यात्माओं का सान्निध्य दुर्लभ है। तीर्थंकर जैसे महापुरुषों का साक्षात् उपदेश सुन पाना दुर्लभ है। अब वे यहाँ हमें उपदेश देने नहीं आयेंगे। उनका दर्शन और समागम अब यहाँ होना असंभव है। इसके उपरान्त भी अभी धर्म टिका हुआ है। पंचम काल के अंत तक रहेगा। बीच-बीच में उत्थान-पतन होते रहेंगे। पतित से पावन बनाने वाले इस धर्म के उपासक संख्या में भले ही अल्प हों, लेकिन गुणों की उपासना होती रहेगी। यही इस धर्म की उपलब्धि है।

कोई व्यक्ति पतित से पावन कैसे बने। यह बात विचारणीय है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि जो व्यक्ति अपने आपको प्रारंभ से ही पावन मानता है, उसमें पावन बनने की कोई गुंजाइश ही नहीं है। पावन से पावन बनने का प्रयास भी कौन करेगा? पेट भरने का प्रयास वही करता है जो भूखा है। जो तृप्त है, जिसका पेट भर गया है, उसे प्रयास करने की आवश्यकता ही क्या है? तो पहले हमें जानना होगा कि हम पतित हैं, और पतित होने का कारण हमारे स्वयं के बुरे कर्म हैं। संसार में भटकाने वाले भी यही कर्म हैं।

जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अंतिम तीर्थंकर महावीर तक सभी ने इन कर्मों से विमुख होकर अपनी आत्मा को परमात्मा बनाया है। हमें भी इन कर्मों से बचने का उपदेश दिया हैं।

उन्होंने कहा कि "पापी से नहीं बल्कि पाप से बचो। यही उच्च बनने का रास्ता है। यदि पापी से घृणा करोगे तो वह कभी पुण्यात्मा नहीं बन सकेगा और घृणा करने वाला स्वयं ही पतित हो जाएगा।" इसलिए संसार की अनादिकालीन परम्परा के मूल कारण-भूत कर्म को नष्ट करना ही हमारा ध्येय होना चाहिए। जब तक बीज बना रहेगा, वृक्ष की उत्पत्ति भी होती रहेगी। धर्म के माध्यम से कर्मरूपी बीज को जला दिया जाए तो संसार-वृक्ष की उत्पत्ति संभव नहीं है।

अब आप कहेंगे कि कर्म-बीज को जलाने के लिए क्या करें? इसकी साधना कैसे करें? तो बंधुओं! रत्नत्रय के माध्यम से यह कार्य संभव है। रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और आचरण के माध्यम से हम अपनी आत्मा के अनादिकालीन कर्म संस्कारों को समाप्त कर सकते हैं। रत्नत्रय के पवित्र संस्कारों के द्वारा पाप के संस्कारों से मुक्त होकर आत्मा शुद्ध बन सकती है। पवित्र संस्कारों के द्वारा ही पतित से पावन बना जा सकता है। जो व्यक्ति पापों से अपनी आत्मा को छुड़ाकर केवल विशुद्ध भावों के द्वारा अपनी आत्मा को संस्कारित करता है, वही संसार से ऊपर उठ पाता है। यह मात्र कल्पना नहीं है। यह सत्य है। यही सच्चा विज्ञान है।

जैसे मिट्टी ऊपर उठना चाहती है। अपना उद्धार करना चाहती है- तो एक दिन धरती माँ से पूछती है कि माँ मुझे लोग पद्दलित करते हैं। मुझे खोदते, रौंदते और तरह-तरह की यातनाएं देते हैं। क्या मेरे जीवन में कभी ऐसा अवसर आएगा कि मैं भी सभी की प्रेम-भाजन बनूंगी? क्या ऐसा विकास मेरा भी संभव है? तब धरती माँ समझाती है कि हां, संभव है? लेकिन इसमें बड़ी साधना और सहनशीलता की आवश्यकता है।

त्याग, तपस्या और विश्वास की आवश्यकता है। जो प्रक्रिया बतायी जायेगी उस प्रक्रिया को अपनाना होगा। तब एक समय ऐसा आयेगा जब सभी तुझे प्यार से संभालकर ऊपर रखेंगें।

यदि पतित से पावन बनने का विचार तेरे मन में आया है, तो जब भी कोई कुम्हार यहाँ पर आये, उसके हाथों में अपने को समर्पित कर देना। रोना चिल्लाना नहीं। उसके प्रति द्वेषभाव भी मत करना। वह जो प्रक्रिया बताये

उसे ग्रहण करना। वह जैसा करे, करने देना। कुछ भी प्रतिक्रिया मत करना। यही पतित से पावन बनने का सूत्रपात होगा।

अच्छी बात है। मिट्टी प्रतीक्षा करती है। एक दिन कुम्हार आता है और फावड़े से मिट्टी को खोदने लगता है। अब मिट्टी क्या कहे? सब सहन करती है। उसे माँ की वाणी पर विश्वास है। वह अपने भविष्य को विकसित देखना चाहती है। इसलिए अपने को कुम्हार के हाथों में सौंप देती है। फिर कुम्हार उसे ले जाकर पानी डाल-डालकर रौंदता है और लौंदा बनाकर चाक पर चढ़ा देता है। मिट्टी घबराती है। सोचती है, अब क्या करूं? ऐसा कब तक सहन करूं? चाक पर घूमते-घूमते चक्कर आने लगा, पर उसे माँ की बात ध्यान में आ जाती है कि विकास के रास्ते में सब सहन करना ही श्रेयस्कर है। वह सब सहन करेगी उसे माँ पर विश्वास है। जो संतान अपनी माँ के बताये हुए सत्यमार्ग पर विश्वास नहीं रखती, उसका विकास अभी और आगे कभी भी संभव नहीं है।

आप लोगों ने शिखर जी की वंदना की होगी। एक-एक कदम ऊंचाई पर चढ़ना होता है। जितनी ऊंचाई बढ़ती जाती है, पैर उतने ही लड़खड़ाने लगते हैं। पसीना आ जाता है। कमजोर व्यक्ति हो तो सीने में दर्द होने लगता है। लेकिन ध्यान रखो, उन्नति का रास्ता यही है। परिश्रम के बिना हम कुछ प्राप्त नहीं कर सकते।

जो एक-एक कदम उठाता हुआ आगे रखता चलता है विकास की ओर, वही सफल होता है। लक्ष्यवान् साधक सभी बाधाओं को पार करता हुआ आगे बढ़ता है।

मिट्टी विकास की ओर अग्रसर है। सब कुछ समता भाव से सहन कर रही है। तब एक दिन वह कुंभकार के योग और उपयोग के माध्यम से कुंभ का रूप धारण कर लेती है। सोचती है कि यह तो एक नयापन मेरे अंदर आ गया है। ऐसा प्रयोग तो कभी नहीं हुआ था। अब यह सारे कष्टों को भूल गयी। सारी यातनाएं विस्मृत हो गयीं। चाक के ऊपर घड़े के रूप में मिट्टी बैठी है।

फिर उसे वहाँ से भी उठाकर कुंभकार धूप में रख देता है। मानो उष्ण परिषह प्रारंभ हो गया। घड़ा धीरे-धीरे थोड़ा सूखने लगा। एक दिन जब कुंभकार ने उसे हाथ में लेकर पानी सींचकर चोट मारना प्रारंभ किया, तब कुंभ सोचने लगा कि अरे। यह एक नयी मुसीबत और आ गयी। अब पिटाई

हो रही है। पर धरती मां ने पहले ही समझा दिया था कि यह पिटाई नहीं है, यह तो अंदर सोई हुई शक्तियों को उद्घाटित किया जा रहा है।

अभी तो यह प्रीवियस है। पूर्वार्द्ध है। अभी कुंभ कच्चा है। फाइनल एक्जामिनेशन भी होगा। अवे में तपना होगा। अंतिम अग्नि परीक्षा होगी। जैसे ही कुंभ को अवे की अग्नि में रखा जाता है। वह सोचता है कि यह तो हमारा विकास नहीं, लगता है विनाश हो रहा है। यह कौन सी पद्धति है। इतना अवश्य है कि मां की बात अहितकारी नहीं हो सकती। विकास की ओर जाने के लिए जलना भी होगा। यह सोचकर कुंभ कोई प्रतिक्रिया नहीं करता और अग्नि में उत्तीर्ण होकर आ जाता है।

उसे बाहर निकालकर कुंभकार धीरे से बजाकर देखता है। सब ठीक है। अब कुंभ में जलधारण करने की शक्ति आ चुकी है। अब कोई क्रिया शेष नहीं रही। इसी जल धारण की क्षमता पाने के लिए मिट्टी से कुंभ का निर्माण हुआ है। फिर ज्येष्ठ के महीने में बड़े-बड़े सेठ साहूकार भी सोने चांदी के बर्तन नहीं चाहते। उस समय तो शांति और शीतलता देने वाला मिट्टी का घड़ा ही अच्छा लगता है। सभी उसे फूल के समान हाथ में लिए रहना पसंद करते हैं। कोई उसे नीचे रखना नहीं चाहता। ऊँचे स्टूल आदि पर रखते हैं, प्यार के साथ, संभाल करके। अब पटक नहीं सकते। अपना अहंकार गलाकर, मान-अपमान सहन कर यह मिट्टी का विकास संभव हुआ है। पतित से पावन ऐसे ही बना जाता है।

प्रत्येक आत्मा इसी प्रकार संस्कारों के माध्यम से अपना उत्थान कर सकती है। सभी संस्कार जन्म से नहीं आते। संस्कार पूर्व कर्मों पर आधारित नहीं है। वह तो धर्म पर आधारित हैं। संस्कारित होने वाली आत्मा तो चेतना है। चेतन के माध्यम से ही चेतन पर संस्कार डाले जाते हैं। जो अनंतकालीन संसार के संस्कारों को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। ऐसे उत्थान की ओर, संसार से मोक्ष की ओर ले जाने वाले संस्कार ही वास्तविक संस्कार है।

मिट्टी अपनी घड़े बनने की निजी क्षमता को नहीं पहचान पाने के कारण अनादिकाल से पद्दलित होती आ रही थी। कुंभकार के माध्यम से अपनी क्षमता को पहचानकर, अपने को संस्कारों के द्वारा संस्कारित करके, उसे प्रकट कर लेती है। ऋषभनाथ जैसे, पार्श्वनाथ जैसे, बाहुबली जैसे और भगवान महावीर जैसे अनंत जो सिद्ध हुए हैं, वे भी अपनी क्षमता को पहिचान कर रत्नत्रय के संस्कारों से संस्कारित होकर सिद्ध हुए हैं। पहले से ही सिद्ध भगवान नहीं थे।

सिद्ध होने की क्षमता मिट्टी में कुंभ के समान अव्यक्त शक्ति के रूप में हर प्राणी में हुआ करती है। जिसे सुसंस्कारों के माध्यम से प्रकट किया जा सकता है। सिद्धत्व की प्राप्ति तभी संभव होती है। यही जैनधर्म का मूलभूत सिद्धांत है। प्रत्येक आत्मा अपने पुरुषार्थ के द्वारा परमात्मा बन सकता है। बहुत कम आत्माएं संस्कारों की महत्ता को जान पाती हैं। उसमें भी बहुत कम आत्माएं संस्कारों के माध्यम से जीवन को सफलता की ओर ले जाती हैं। आज बातें करने वाले बहुत सारे लोग मिल जाते हैं, पर ध्यान रखना, आत्म-स्वरूप की पहचान जब तक नहीं होती, तब तक मात्र बातें कर लेने से निर्वाण नहीं होता।

कर्म से संस्कारित यह आत्म-तत्त्व कैसे कर्म से मुक्त हो, कैसे इसका विकास हो, कैसे संस्कार डाले जायें? इन सब बातों के लिए आत्मपुरुषार्थ अपेक्षित है। शरीर से पृथक् आत्म-तत्त्व है। उस आत्म-तत्त्व का विकास करना हमारा लक्ष्य है तो सबसे पहले शरीर को अपने से पृथक् जानना होगा। उसे साधन मानकर उसका उपयोग करना होगा। शरीर साध्य नहीं है। वह तो साधन है।

आचार्य समन्तभद्र महाराज ने इस बात को बहुत अल्प शब्दों में कहा है कि-

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रय पवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीति, र्मतानिर्विचिकित्सता॥

अर्थात् स्वभाव से तो यह शरीर अपवित्र है, गंदा है लेकिन जब कभी शरीराश्रित आत्मा में रत्नत्रय का आरोपण होता है तो रत्नत्रय के द्वारा पवित्र शरीर में पूज्यपना आ जाता है। ग्लानि नहीं होती, बल्कि गुणों के प्रति प्रीतिभाव होता है। यही समीचीन दृष्टि है।

जो इंद्रियों का दास बना हुआ है। विषय सामग्री की प्राप्ति में ही जीवन व्यतीत कर रहा है। शरीर को ही आत्म-तत्त्व मानकर उसकी सेवा में उलझा है। उसे अभी अपना वास्तविक स्वरूप समझना चाहिए। आत्म तत्त्व की ओर दृष्टिपात करके सोई हुई शक्ति को उद्घाटित करना चाहिए। जो व्यक्ति आत्मा का विकास करना चाहता है, उसे शरीरगत पर्यायों में नहीं उलझना चाहिए। शरीर तो स्वभाव से ही अशुचि रूप रहेगा। विकास आत्मा का करना है, इसलिए संस्कार शरीर का नहीं अपितु आत्मा का संस्कार करना है। मिट्टी के ऊपर मिट्टी का संस्कार नहीं किया जाता। मिट्टी के ऊपर जल और अग्नि के संस्कार कुंभकार द्वारा डाले जाते हैं। विकास का मार्ग यही है।

महापुराण में एक प्रसंग आता है। कर्मभूमि के प्रारंभ में आदिब्रह्मा ऋषभनाथ भगवान ने अपने राज्यकाल में तीन वर्णों की स्थापना की। इसके बाद उन्हीं के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने एक चौथे ब्राह्मण वर्ण की स्थापना और की। उसका आधार संस्कार था। जन्म से कोई सर्वथा उच्च नहीं होता। उच्चता कर्म से आती है। मात्र जनेऊ पहनने से कोई उच्च नहीं होता किन्तु जिनवाणी की आज्ञा पालन करने वाला रत्नत्रय के द्वारा आत्मा को संस्कारित करके उच्चता को प्राप्त करता है।

भरत चक्रवर्ती ने चौथा वर्ण बनाने से पहले परीक्षा ली। तीनों वर्णों को दरबार में बुलाया। चक्रवर्ती की आज्ञा थी, इसलिए सभी व्यक्ति भागकर आये। जीवरक्षा का थोड़ा भी विचार नहीं किया। पर कुछ व्यक्ति सीधे रास्ते से न आकर घूमकर आये और थोड़ा विलम्ब भी हुआ। चक्रवर्ती ने पूछा कि ऐसा क्या कारण है कि आप सीधे मार्ग से न आकर घूमकर आये। तब बताया गया कि पर्व के दिन हैं। सीधे रास्ते पर नये-नये कोमल अंकुर उग आये हैं। पैर रखने के लिए जगह नहीं है। भगवान की वाणी में यह बात आयी है कि वनस्पति कायिक जीव अनंत हैं। यदि हम उस सीधे रास्ते से आते तो उन जीवों का विघात होता।

जीव हमें भले ही दिखाई न देते हों लेकिन जिनेन्द्र भगवान की वाणी अन्यथा नहीं हो सकती।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं, हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञा सिद्धं तदग्राह्यं, नान्यथावादिनो जिना:॥

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा गया तत्त्व सूक्ष्म है, उसे किसी हेतु या तर्क के द्वारा बाधित नहीं किया जा सकता। वह इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य होने पर भी भगवान की आज्ञा से मानने योग्य है। इसलिए भले ही थोड़ा विलम्ब हो गया, अधिक चलना पड़ा, लेकिन जीवरक्षा के लिए लम्बे रास्ते से चलकर हम आये हैं।

भरत चक्रवर्ती ने कहा- बहुत अच्छा, परीक्षा हो गयी। तुम लोग पाप से विरत हो। व्रती हो। जीवदया रखते हो। त्रस जीवों के साथ-साथ स्थावर जीवों की भी रक्षा का भाव रखने वाला व्रती होता है। इसलिए उनका एक अलग ब्राह्मण-वर्ण बना दिया। महापुराण में जिनसेनाचार्य महाराज ने उल्लेख किया है कि समाज की व्यवस्था के लिए, उसके उत्थान के लिए ही सभी वर्ण बनाये गये हैं लेकिन अब सब कथन मात्र रह गया है। दया का पालन नहीं

होता, संयम भी नहीं रहा। मात्र विषयकषायों के बहाव में सभी बहते जा रहे हैं। इसे ही विकास मान रहे हैं।

बंधुओं! ग्रथों के प्रकाशन या प्रचार-प्रसार अकेले से हमारा प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। जिनवाणी के अनुरूप आचरण भी करना होगा। ग्रंथ तो हमें निर्ग्रंथ होने के लिए प्रेरित करते हैं। वीतरागता की उपासना करने वाला, रत्नत्रय की आराधना करने वाला ही संस्कारवान् है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार के निर्जरा अधिकार में आत्मा को शुद्ध बनाने के लिए तीन गाथाओं में बहुत सुंदर ढंग से उल्लेख किया है। प्रक्रिया बतायी है। आत्मा के साथ लगे हुए रागद्वेष रूपी कर्म कालिमा को दूर करने के लिए यदि कोई रसायन है, कोई औषधि है तो वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय ही है। इस औषधि से भावित करके आत्मा को तप रूपी अग्नि में तपाया या संस्कारित किया जाता है। तब आत्मा परमात्मा बनती है। जिसे भी परमात्मा बनना है, उसे एक न एक दिन इसी प्रक्रिया को अपनाना होगा।

अपनी पुत्रवधु से सासुजी ने कहा कि बेटा, दही जमाना है। शाम होने से पहले एक भगौनी को साफ-सुथरा करके मांजकर के उसमें दूध को जामन डालकर रख देना। सुबह-सुबह घी तैयार करना है। पुत्रवधु ने हां कह दिया। सुबह उठकर जब सासु ने देखा दंग रह गयी। दूध जमा नहीं था, फट गया था। बात क्या हुई? दूध कैसे फट गया? बहू से पूछा कि क्या किया था? बर्तन ठीक से मांजा था कि नहीं? बहू ने कहा- मां ठीक से मांजा था, देखो चमक रहा है। बर्तन ऊपर से चमक रहा था लेकिन भीतर ज्यों का त्यों था। अंदर से नहीं मांजा गया, यही चूक रह गयी।

बंधुओं! संस्कार डालना आवश्यक है। मांजना आवश्यक है, लेकिन संस्कार मात्र ऊपर-ऊपर से न डाले जायें। अन्यथा दूध भी चला गया, दही भी नहीं मिला, घी भी नहीं बन पाया। भीतरी संस्कार आवश्यक है। जिनवाणी के माध्यम से पढ़कर, समझकर अपनी आत्मा को जो बाहर-भीतर सब तरह से रत्नत्रय के द्वारा संस्कारित करता है; मांजता है, वही अपने शुद्ध परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। बाह्य शरीर को मांजने वाला कभी भी आत्म-स्वरूप को उपलब्ध नहीं कर सकता।

अंत में इतना ही कहना चाहूँगा कि जिनवाणी माँ ही ऐसी माँ है जो अपने बेटे को हमेशा जगाती रहती है। मोहरूपी निद्रा में सोया हुआ यह जीव जिनवाणी माँ पर विश्वास करें तो आत्म-विकास कर सकता है।

सच्चे देवगुरु शास्त्र की उपासना, धर्म की उपासना का एक मात्र लक्ष्य आत्म-कल्याण होना चाहिए। आत्म-उत्थान होना चाहिए।

वही अधिष्ठान है
सुख का मृदु नवनीत
जिसका पुनः मंथन नहीं है
वही विज्ञान है
ज्ञान है निजरीत
जिसका पुनः कथन नहीं है
और वही उत्थान है
प्रिय संगीत
जिसका पुनः पतन नहीं है।

□□

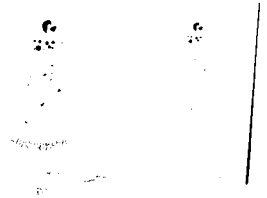

अंतिम तीर्थंकर-भगवान महावीर

□ **भगवान वर्धमान महावीर अपने नाम के अनुरूप वर्धमानथे। वे अपनी आत्मा में निरन्तर प्रगतिशील थे। वर्धमान-चारित्र के धारी थे। पीछे मुड़कर देखना या नीचे गिरना उनका स्वभाव नहीं था। वे प्रतिक्षण वर्धमान और उनका प्रतिक्षण वर्धमान था। अपने विकारों पर विजय पाने वाले अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त करने वाले वे सही मायने में महावीर थे।**

कौन कहाँ से आया है, कहाँ जायेगा, यह कहा नहीं जा सकता, लेकिन आया है तो उसे जाना होगा, यह निश्चित है। यह सत्य है। पर हम आने की बात से हर्षित होते हैं और आने को महोत्सव के रूप में मानते हैं। प्रेम के साथ अपनाते हैं। जाने की बात हमें रुचिकर नहीं लगती और जाने की बात हमें उदास कर देती है। यही हमारी नासमझी है। इस बात को हमें समझ लेना चाहिए कि आने-जाने का प्रवाह निरन्तर है। महावीर भगवान इस प्रवाह के बीच तटस्थ ही नहीं बल्कि आत्मस्थ/स्वस्थ रहे। तभी वे वास्तव में महावीर बने।

महावीर बनने के लिए इस प्रवाह की वास्तविकता का बोध होना अनिवार्य है। दिन और रात का क्रम अबाध है। उषा के बाद निशा और निशा के बाद उषा आयेगी। जो यह जान लेता है, वह दोनों के बीच सहजता से जीता है। भगवान महावीर का जीवन ऐसा ही सहजता का जीवन है। वे स्वयंबुद्ध थे, विचारक थे, चिन्तक थे। जीवन के हर पहलू के प्रति सजग चिन्तन उनका था। जो हो चुका, जो हो रहा है और जो होगा सभी के प्रति सहज भाव रखना यही वस्तु के परिणमन का सही आकलन है।

जो स्वागत के साथ विदाई की बात जानता है। वह न स्वागत गान से हर्षित/प्रभावित होता है और न ही मृत्यु/गीत से उदास/दुखित होता है।

जीवन क्या चीज है? जीवन तो ऐसा है कि जैसे किसी के हाथ में कुछ देर कांच का सामान रहा, फिर क्षणभर में गिरकर टूट गया। जन्म हुआ और मरण का समय आ गया। साठ-सत्तर बरस पल भर में बीत जाते हैं। जो यह जानता है, वह समय का सदुपयोग कर लेता है। यही बुद्धिमानी है। यही सम्पत्ति है।

कहीं एक घटना पढ़ने में आयी थी। एक लाड़ली प्यारी लड़की थी, अपने माता-पिता की। एक ही थी इसलिए माता-पिता ने बड़े सोच समझकर योग्य वर की तलाश की। बहुत परिश्रम के बाद वर मिला। विवाह का शुभ-मुहूर्त्त आ गया। मंगल वेला की सारी तैयारी आनन्द-दायक लग रही थी। लेकिन सात फेरे पूरे भी नहीं हुये और सातवां अंतिम फेरा प्रारंभ हुआ कि वर के प्राण देह से निकल गये। सब ओर हाहाकार मच गया। पर अब क्या हो सकता था?

"राजा-राणा छत्रपति हाथिन के असवार, मरना सबको एक दिन अपनी-अपनी वार।" जिसकी जब बारी आ जाये तो उसे जाना होगा, इस बात का बोध होने पर ही जीवन में समीचीनता आती है। सन्मार्ग की ओर कदम बढ़ते हैं। भगवान महावीर ने स्वयं सन्मार्ग पाया, वे स्वयं सन्मति थे और हमें भी वही सन्मार्ग दिखाया, सन्मति दी।

विवाह की मंगल वेला में भी जाने का समय आ गया। जाने की बेला आ गयी। जाने वाला चला गया। कौन कहाँ तक साथ निभायेगा, कौन कहाँ तक साथ देगा, यह कहा नहीं जा सकता पर इतना अवश्य है कि सिवाय धर्म के कोई और अंत तक साथ नहीं देता। कोई भी द्रव्य, कोई भी पदार्थ या कोई भी घड़ी वहाँ टिक नहीं सकती। बहाव है जो निरंतर बहता रहता है। परिणमन प्रतिक्षण है।

कोई भी वस्तु यदि रुक जाये, परिवर्तित न हो तो वस्तु नहीं मानी जायेगी। वस्तु तो वही है जो प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होते हुये भी अपने स्वरूप में स्थित है। भगवान महावीर की यात्रा भी अरुक थी, वह संसार में रुके नहीं, सतत् बढ़ते ही गये। जो इस प्रवाहमान जगत् में निरन्तर अपने आत्म-स्वरूप की प्राप्ति की ओर बढ़ रहा है, वृद्धिंगत हो रहा है, वही वर्धमान है। उसका प्रतिक्षण नित-नवीन वर्धमान है।

महावीर भगवान अपने नाम के अनुरुप ऐसे ही वर्धमान थे। वे अपनी आत्मा में निरन्तर प्रगतिशील थे। वर्धमान चारित्र के धारी थे। पीछे मुड़कर देखना या नीचे गिरना उनका स्वभाव नहीं था। वे प्रतिक्षण वर्धमान और उनका प्रतिक्षण वर्तमान था। उन्हें अपने खो जाने का भय नहीं था। जो शाश्वत है, जो कभी खो नहीं सकता, महावीर भगवान उसी के खोजी थे। उसी में खोने को राजी थे। उनका उपदेश भी यही था कि जो नश्वर है, मिटने वाला है, उसे पकड़ने का प्रयास या उसे स्थिर बनाने का प्रयास व्यर्थ

है। वास्तविक सुख तो अपनी अविनश्वर आत्मा को प्राप्त करने में है।

यहाँ संसार में जो सुख है, उसके पीछे दु:ख भी है। संयोग के साथ वियोग लगा हुआ है। जो सुख-दु:ख के पार है, जो संयोग-वियोग के पार है, उसका विचार आवश्यक है। उसका जन्म भी नहीं है, उसका मरण भी नहीं है, मानो एक आवरण हैं जो इधर का उधर हट जाता है और वह जो मृत्युंजयी है, वह हमेशा बना ही रहता है।

युद्ध से पूर्व अर्जुन को श्रीकृष्ण ने यही तो समझाया था कि जो कर्मयोगी है वह जन्म-मरण का विचार नहीं करता, वह तो जीवन-मरण के बीच जो शाश्वत आत्मतत्त्व है उसका विचार करता है और कर्त्तव्य में तत्पर रहता है। **"जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु, ध्रुवो जन्म मृतस्य च, तस्मातपरिहार्योऽर्थे, न त्वं शोचितुमर्हसि।"** अर्थात् जिसका जन्म है, उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है और जिसकी मृत्यु है, उसका जन्म भी अवश्य होगा। यह अपरिहार्य चक्र है। इसलिये हे अर्जुन, सोच में मत पड़ो। अपने धर्म का (कर्त्तव्य) का पालन करना ही इस समय श्रेयस्कर है। जन्म-मरण तो होते ही रहते हैं। हम शरीर की उत्पत्ति के साथ अपनी उत्पत्ति और शरीर के मरण के साथ अपना (आत्मा का) मरण मान लेते हैं। क्योंकि अपनी वास्तविक आत्म-सत्ता का हमें भान ही नहीं है। जन्म-जयन्ती मनाना तभी सार्थक होगा जब हम अपनी शाश्वत सत्ता को ध्यान में रखकर अपना कर्त्तव्य करेंगे और उसी की संभाल में अपना जीवन लगायेंगे।

भगवान महावीर स्वामी का कहना था कि यदि वस्तु को आप देखना चाहते हो या जीवन को परखना चाहते हो या कोई रहस्य उद्घाटित करना चाहते हो तो वस्तु के किसी एक पहलू को पकड़कर उसी पर अड़ करके मत बैठो। मात्र जन्म ही सत्य नहीं है और न मरण ही सत्य है। सत्य तो वह भी है जो जन्म मरण दोनों से परे हैं।

जो व्यक्ति मरण से डरता है, वह कभी ठीक से जी नहीं सकता। लेकिन जो मरण के प्रति निश्चिंत है, मरण के अनिवार्य सत्य को जानता है, उसके लिए मरण भी प्रकाश बन जाता है। वह साधना के बल पर मृत्यु पर विजय पा लेता है। संसार में हमारे हाथ जो भी आता है, वह एक न एक दिन चला जाता है, यदि जीवन के इस पहलू को, इस रहस्य को हम जान लें और आने-जाने रूप दोनों स्थितियों को समान भाव से देखें तो जीवन में समता भाव (साम्यभाव) आये बिना नहीं रहेगा। जो मुक्ति के लिए अनिवार्य है।

जीवन के आदि और अंत दोनों की एक साथ अनुभूति हमारे पथ को प्रकाशित कर सकती है। हम शान्त भाव से विचार करें और हर पहलू को समझने का प्रयास करें तो जीवन का हर रहस्य आपोआप उद्घाटित होता चला जाता है। अनेकान्त से युक्त दृष्टि ही हमें चिन्तामुक्त और सहिष्णु बनाने में सक्षम है। संसार में जो विचार-वैषम्य है वह अपने एकान्त पक्ष को पुष्ट करने के आग्रह की वजह से हैं। अनेकान्त का हृदय है समता। सामने वाला जो कहता है, उसे सहर्ष स्वीकार करो। दुनिया में ऐसा कोई भी मत नहीं है जो भगवान महावीर की दिव्य-देशना से सर्वथा असंबद्ध था। यह बात जुदी है कि परस्पर सापेक्षता का ज्ञान न होने से दुराग्रह के कारण मतों में, मान्यताओं में मिथ्यापना आ जाता है।

मैं बार-बार कहा करता हूँ कि हम दूसरे की बात सुनें और उसका आशय समझें। आज बुद्धि का विकास तो है लेकिन समता का अभाव है। भगवान महावीर ने हमें अनेकान्त दृष्टि देकर वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराया है। साथ ही साथ, हमारे भीतर वैचारिक सहिष्णुता और प्राणिमात्र के प्रति सद्भाव का बीजारोपण भी किया है।

हमें आज आत्मा के रहस्य को समझने के लिए अनेकान्त, अहिंसा और सत्य की दृष्टि की आवश्यकता है। वह भी वास्तविक (रीयल) होनी चाहिये, बनावटी नहीं। यदि एक बार यह ज्योति (आँख) मिल जाये तो मालूम पड़ेगा कि हम व्यर्थ चिंता में डूबे हैं। हर्ष-विषाद और इष्ट-अनिष्ट की कल्पना व्यर्थ है। आत्मा अपने स्वरूप में शाश्वत है।

भगवान महावीर अपनी ओर, अपने स्वभाव की ओर देखने वाले थे। वे संसार के बहाव में बहने वाले नहीं थे। हम इस संसार के बहाव में निरन्तर बहते चले जा रहे हैं और बहाव के स्वभाव को भी नहीं जान पाते हैं। जो बहाव के बीच आत्मस्थ होकर रहता है, वही बहाव को जान पाता है। आत्मस्थ होना यानी अपनी ओर देखना। जो आत्मगुण अपने भीतर हैं उन्हें भीतर उतरकर देखना। अपने आपको देखना, अपने आपको जानना और अपने में लीन होना- यही आत्मोपलब्धि का मार्ग है।

मैं कौन हूँ? यह भाव भीतर गहराता जाये। ऐसी ध्वनि प्रतिध्वनि भीतर ही भीतर गहराती जाये, प्रतिध्वनित होती चली जाये कि बाहर के कान कुछ न सुनें। हमारे सामने अपना आत्म-स्वरूप मात्र रहे। तो उसी में भगवान महावीर प्रतिबिंतित हो सकते हैं। उसी में राग अवतरित हो सकते हैं। उसी

में महापुरुष जन्म ले सकते हैं। यही तो महावीर भगवान का उपदेश है कि प्रत्येक आत्मा में महावीरत्व छिपा हुआ है।

आत्मा अनंत है। चेतना की धारा अक्षुण्ण है। आवश्यकता उसमें डुबकी लगाने की है। दर्पण में जैसे कोई देखे तो दर्पण कभी नहीं कहता कि मेरा दर्शन करो, वह तो कहता रहता है कि अपने को देखो। मुझमें भले ही देखो, पर अपने को देखो। अपने दर्पण स्वयं बनो। दर्पण बने बिना और दर्पण के बिना स्वयं को देखना संभव नहीं है।

गुणवश प्रभु तुम हम सम, पर पृथक् हम भिन्नतम ।
दर्पण में कब दर्पण, करता निजपन अर्पण।।

गुणों की अपेक्षा देखा जाये तो भगवान और हममें समानता है। लेकिन सत्ता दोनों की पृथक्-पृथक् है। दो दर्पण हैं, समान हैं, लेकिन एक दर्पण दूसरे में अपनी निजता नहीं डालता। मात्र एक दूसरे की निजता को प्रतिबिंबित कर देता है। भगवान महावीर में हम अपने को देख सकें यही हमारी बड़ी से बड़ी सार्थकता होगी।

नदी, पहाड़ की चोटी से निकलती है। चलते-चलते बहुत से कंदराओं, मरुभूमियों, चट्टानों और गर्तों को पार करती है और अन्त में महासागर में विलीन हो जाती है। हमारी जीवन-यात्रा भी ऐसी ही हो। अनंत की ओर हो ताकि बार-बार यात्रा न करना पड़े। संसार का परिभ्रमण रूप यह जन्म मरण छूट जाये। महावीर स्वामी ने आज की तिथि में जन्म लेकर, जन्म से मृत्यु की ओर यात्रा प्रारंभ की, जो अन्त में मृत्युंजयी बनकर अनंत में विलीन हो गई।

आत्मा को निरन्तर शरीर धारण करना पड़ रहा है। यही एक मात्र दुख है। शरीर से हमेशा के लिए मुक्त हो जाना ही सच्चा सुख है। अभी तो जिस प्रकार अग्नि लौह पिण्ड के सम्पर्क में आने से लोहे के साथ पिट जाती है, उसी प्रकार शरीर के साथ आत्मा घटी/मिटी तो नहीं है लेकिन पिटी अवश्य है। विभाव रूप से परिणमन करना ही पिटना है। अपने आत्म-स्वरूप से च्युत होना ही पिटना है। जन्म-मरण के चक्कर में पड़े रहना ही पिटना है। हम इस रहस्य को समझें और जन्म मरण के बीच तटस्थ होकर अपने आत्म स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयास करें। अनंत सुख को प्राप्त करने का प्रयास करें।

भगवान महावीर का तो यह जन्म अंतिम था। उनकी मृत्यु भी अंतिम थी। वे स्वयं भी अंतिम तीर्थंकर थे। इसके पूर्व और भी तेईस तीर्थंकर हुए। सभी ने अपने आत्म-बल के द्वारा अपना कल्याण किया और हमारे लिए कल्याण का मार्ग बताया। लेकिन हम इस जन्म के चक्र से स्वयं को निकाल नहीं पाये। हमारा जीवन धर्मामृत की वर्षा होने के उपरान्त भी अमृतमय नहीं हुआ। जरा देर के बाद बाहर से भले ही अमृत से भीगा हो, लेकिन भीतर तक भीग नहीं पाया।

भीतर तक भीगने के लिए अन्तर्मन की निर्मलता चाहिये। श्रद्धा भक्ति ही अन्तर्मन को निर्मल बनाती है। भगवान महावीर की जयन्ती मनाकर अपने अंतर्मन को निर्मल बनाने का प्रयास करें। पाँच पापों से मुक्त होकर, कषाय भावों को छोड़कर आत्मस्थ होने का प्रयास करें।

शरीर की बदलती हुई नश्वर पर्यायों में न उलझें। शरीर का बदलना तो ऐसा है कि जैसे पुराना वस्त्र जब जीर्ण-शीर्ण होकर फटने लग जाता है तब उसे उतारकर दूसरा वस्त्र धारण कर लिया जाता है, ऐसे ही जब तक यह आत्मा संसार से मुक्त नहीं होती तब तक नई-नई पर्याय अर्थात् शरीर को धारण करती रहती है। यही शरीर का बंधन दुखदायी है। इस बंधन से मुक्त होना ही सुखकर है। यही आदर्श है। यही श्रेयस्कर है। यही प्राप्तव्य है।

इसी भावना के साथ अंत में इतना ही कहूँगा कि-

वीर निधि से धीर हो, वीर बने गम्भीर
पूर्ण तैर कर पा लिया, भवसागर का तीर।
अधीर हूँ मुझे धीर दो, सहन करूं सब पीर
चीर-चीरकर चिर लिखूं, अंदर की तस्वीर।।

□□

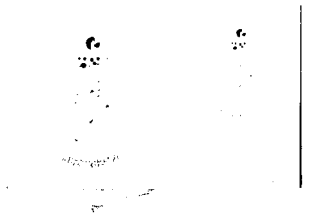

परम पुरुष-भगवान हनुमान

□ **हनुमान जी, अंजना और पवनंजय के पुत्र थे, इसलिए पवनपुत्र कहलाते थे। उनका शरीर वज्र के समान सुदृढ़ और शक्ति सम्पन्न था, इसलिए उन्हें कहीं-कहीं लोग बजरंगबली भी कहते हैं। उनका प्रचलित वानर रूप उनका वास्तविक रूप नहीं है। वे तो सर्वगुणसम्पन्न और सुंदर शरीर को धारण करने वाले मोक्षगामी परम पुरुष थे।**

सुगंध की आवश्यकता होने पर हम फूल या अन्य किसी सुगंधित पदार्थ की गवेषणा करते हैं। प्रकाश की आवश्यकता होने पर सूर्य की, दीपक की प्रतीक्षा करते है। शीतलता की आवश्यकता होने पर सघन छायादार वृक्ष या शीतल गंगाजल चाहते हैं। वास्तव में पदार्थ की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी उस पदार्थ में विद्यमान शक्ति/गुणधर्म की है। यह ठीक है कि पदार्थ के बिना गुणधर्म नहीं होते। जैसे फूल आदि के बिना सुगंध नहीं रह सकती, सूर्य या दीपक के बिना प्रकाश दुर्लभ है।

लेकिन जब हमारा ध्यान प्रकाश, सुगंध या शीतलता आदि गुणधर्म की ओर न होकर मात्र पदार्थ की ओर होता है तब हम चूक जाते हैं। आत्म-शक्ति की ओर न देखकर मात्र शरीर की ओर देखते रहने का परिणाम यह हुआ है कि जीव संसार में ही भटक रहे हैं। ऐसे समय में समय-समय पर महान् आत्माएं आकर स्वयं अपने आत्म-कल्याण के माध्यम से हमारे सामने आदर्श प्रस्तुत करती हैं और शक्ति की उपासना, गुणों की आराधना का संदेश देती है।

"हिंसायाः दूष्यति तिरस्कारं करोति इति हिन्दू।"

अर्थात् जो हिंसा से दूर है वास्तव में वही हिन्दू हैं। हिन्दू, यदि कोई व्यक्ति है तो उसे व्यक्ति को ऊपर उठाने वाली शक्ति/गुणधर्म अहिंसा है। अहिंसा ही हिन्दू होने की कसौटी है। हम व्यक्ति का सम्मान नहीं करते बल्कि हम व्यक्ति के भीतर विद्यमान व्यक्तित्व का आदर करते हैं।

व्यक्तित्व के अभाव में व्यक्ति की पूजा नहीं होती। यदि आज भारत और भारतीय संस्कृति जीवित है तो इसी सारभूत व्यक्तित्व के मूल्यांकन के कारण ही जीवित है। हम वस्तु के धर्म, स्वभाव या उसके गुणों के विकास की ओर दृष्टिपात करें। व्यक्ति के विकास के लिए अहिंसा गुण होना

चाहिए। किसी जाति, शरीर, सम्प्रदाय आदि का महत्व नहीं है, महत्व अहिंसा धर्म का है।

हम किसी एक नामधारी भगवान को पुकारते हैं तो उसके साथ भी अनेक प्रकार के आवरण और ले आते हैं, आवरणातीत सभी कलंकों से, दोषों से रहित भगवान और निर्दोष पवित्र अहिंसा धर्म को पहचान पाना, इन प्राप्त हुई आंखों से संभव नहीं है। जिस दिन धर्म की सही-सही पहचान हमें हो जायेगी, उसी दिन भक्त और भगवान के बीच की दूरी समाप्त हो जायेगी। असीम संसार भी स्वल्प रह जायेगा और अंदर की कलुषता समाप्त होने लगेगी।

सुख-शांति के रसास्वादन का प्रथम कदम है, अपने से भिन्न अन्य पदार्थों से चित्त को हटाकर निज निरावरित आत्मा की ओर आना। यदि हमें सुख शान्ति चाहिये या हम विश्व में शान्ति लाना चाहते हैं तो प्राप्तव्य वस्तु के गुणधर्म की ओर दृष्टिपात करें।

भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति में यही बड़ा अंतर है कि भारतीय संस्कृति वस्तु के बाह्य आवरण को हटाकर आंतरिक गुणधर्म की ओर जाने की शिक्षा देती है। पाश्चात्य संस्कृति के विचार मात्र आवरण तक ही सीमित रह जाते हैं। भारतीय संस्कृति में सम्यक् ज्ञान का महत्व ज्ञेय पदार्थों की अपेक्षा अधिक है। दर्शन का महत्व अधिक है, दृश्य का नहीं। भोग्य पदार्थ का महत्व (मूल्य) कभी भोक्ता से अधिक नहीं हो सकता। होना भी नहीं चाहिये। क्योंकि भोक्ता (आत्मा) ज्ञानी है। संवेदक है। चैतन्य है और शेष सभी पदार्थ जड़ है, अचेतन है। सुख बाह्य पदार्थों में नहीं, अपनी आत्मा में है। वास्तविक धर्म भी वही है जो हमें आत्म तत्त्व की ओर आना सिखाता है। निष्कलंक और आवरण से मुक्त करता है।

मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि आपके नगर में हजारों घर होंगे, क्या आपने कोई ऐसा घर या महाप्रसाद देखा है जिसमें एक भी दरवाजा या खिड़की न हो। वह घास-फूस की झोपड़ी ही क्यों न हो, पर उसमें एक दरवाजा अवश्य होगा। जिस प्रकार समग्र विश्व में बिना खिड़की या दरवाजे का कोई मकान संभव नहीं, उसी प्रकार सारे संसार में बिना गुण के कोई पदार्थ नहीं है। बस, गुणों को देखने की आवश्यकता है।

गुणों की गवेषणा करने वाली दृष्टि अपने आप गुणों को प्राप्त कर लेती है। जो गुणों की खोज करता है वह गुणों को भी प्राप्त कर लेता है। गुण और गुणी

का संबंध अभिन्न है। धर्म और धर्मात्मा का संबंध भी अभिन्न है। धर्म के अभावमें धर्मात्मा और धर्मात्मा के अभाव में धर्म कहीं मिलने वाला नहीं है।

यही कारण है कि गुणग्राही व्यक्ति दूसरे के सुख को देखकर कभी ईर्ष्या नहीं करता तथा स्वयं भी सुख और शांति का अनुभव करता है। जो दूसरे के अवगुण देखता है और दूसरे को सुखी देखकर ईर्ष्या करता है, वह कभी तृप्ति, सुख और शांति का अनुभव नहीं कर सकता।

भोग की ओर दौड़ लगाने वाला यह युग धर्म का नाम तो लेता है किन्तु धर्म की भावना नहीं रखता। पदार्थ को देखकर मात्र भोगवृत्ति का होना ही व्यक्ति को गुणों से विमुख करता है। भोक्ता जो चैतन्यमूर्ति है, संवेदनशील आत्मा है, वह दिखाई नहीं पड़ता। यही अशांति और दुख का कारण है। यदि हमने सुख-शान्ति को प्राप्त करने का लक्ष्य बनाया है, तो हमारा कर्तव्य है कि जिन्होंने सुख-शांति प्राप्त की है उनकी शरण में जाये और उनके द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलकर गुणग्राही बनकर अपने आत्म-गुणों को प्राप्त करने का प्रयास करे।

जो आत्मनिर्भर होकर निष्कलंक परम अवस्था को प्राप्त हुये हैं, जो किसी का किसी भी रूप में लाभ अथवा हानि नहीं करते। जो अपने आप में स्थित हैं- ऐसे प्रभु की गवेषणा करनी चाहिये। तभी हमें अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होगा। तभी हम अपने अंदर स्थित उस आत्मतत्त्व को जो अनादिकाल से अनुभव में नहीं आया, अनुभूत कर सकेंगे।

रामनवमी यहाँ कुछ दिन पहले मनाई जा चुकी है। उसके उपरान्त भगवान महावीर के पावन आदर्शों की स्मृति स्वरूप महावीर जयन्ती का आयोजन किया जा चुका है। उसी श्रृंखला में आज हनुमान जयन्ती है। उनका व्यक्तित्व अनोखा था। वे अंजना और पवनंजय के पुत्र थे, इसलिए पवनपुत्र कहलाते थे। उनका शरीर वज्र के समान सुदृढ़ और शक्ति सम्पन्न था, इसलिए उन्हें कहीं-कहीं लोग बजरंगबली भी कहते हैं। उनका प्रचलित वानर रूप उनका वास्तविक रूप नहीं है। वे तो सर्वगुणसम्पन्न, सुंदर शरीर को धारण करने वाले परम पुरुष थे।

आज विष्णु की उपासना करने वाले वैष्णव हैं। बुद्ध की उपासना करने वाले बौद्ध हैं। जिनेन्द्र भगवान की उपासना करने वाले जैन हैं, पर ध्यान रखना, धर्म सम्प्रदायातीत है। मैं जैन हूँ, मैं हिन्दू हूँ, मैं सिक्ख हूँ या ईसाई हूँ या मैं मुस्लिम हूँ, इस प्रकार की मान्यता हमारे समाज रूपी महासागर के विशाल अस्तित्व को समाप्त करने वाली है। इस तरह टुकड़ों-टुकड़ों में

बंटकर, बूंद को सुखाने के लिए थोड़ी सी सूर्य की तपन पर्याप्त होती है। हमारा कर्तव्य है कि हम धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझें, धर्म को जीवन में लायें और एक साथ रहकर परस्पर एक दूसरे के प्रति, प्राणिमात्र के प्रति, समूचे अस्तित्व के प्रति सद्भाव रखें।

रामचन्द्रजी को बनवास हुआ। सीताजी का हरण हो गया। तब राम, सीता के वियोग में विचलित हो उठे। कभी नदी के पास जाकर पूछते कि हे नदी, मेरी सीता कहाँ गई है? तुम्हें मालूम होगा, तुम तो बहुत दूर से बहती आ रही हो, मेरी सीता जरूर तुम्हारे किनारे आयी होगी, पानी पिया होगा, संध्या वंदना की होगी, तुम्हारे तट पर बैठकर अर्हन्त भगवान का ध्यान किया होगा, मेरी स्मृति में रोती होगी। कभी वृक्ष के समीप जाकर पूछते कि हे वृक्ष! तुम्हीं बताओ, मेरी सीता यहाँ से गुजरते समय तुम्हारी छाया में बैठी होगी, रसदार फल खाये होंगे, फिर किस ओर चली गई।

कहते हैं कि रामचंद्र जी कंकर-कंकर से पूछते रहे, पर सीता का कहीं पता नहीं लगा। इसी बीच एक दिन जब सुग्रीव, जो अपनी पत्नि के हरण हो जाने से दुःखी थे। शरण में आकर रोने लगे तो रामचंद्र जी ने उन्हें सांत्वना दी और कहा कि सीता की खोज बाद में करूँगा, पहले तुम्हारा दुःख दूर करूँगा। तुम्हारा दुःख दूर करना हमारा परम कर्त्तव्य है। शरणागत दीन-दुःखी, असहाय प्राणी की आवश्यकताओं की पूर्ति करना, उसे संकटों से बचाकर उसका पथ प्रशस्त करना, यही क्षत्रिय पुरुषों का काम है। यही श्रेष्ठ धर्म है।

कुछ समय में ही राम की मदद से सुग्रीव को अपनी खोयी हुई पत्नी सुतारा मिल गई और सुग्रीव भी अपनी सेना के साथ सीताजी की खोज के लिए तत्पर हो गया। परस्पर उपकार का यही सुफल होता है।

उपकार का प्रबल भाव रखने वाले एक विशेष व्यक्तित्व का आज जन्म हुआ था। न्याय का पक्ष लेने वाले वे रामभक्त हनुमान थे। न्यायप्रिय व्यक्ति अन्याय का कभी पक्ष नहीं लेता, चाहे अन्याय का पक्ष कितना भी प्रबल क्यों न हो? न्याय तो वही है जो सत्-पथ पर ले जाये। सच्चाई के मार्ग पर ले जाये। हनुमान सत्पथ पर चलने वाले महापुरुष थे। जैसे ही उन्हें ज्ञात हुआ कि रामचंद्र जी का मार्ग न्याय का मार्ग है, तो वे रावण से निकट संबंध होते हुये भी उनका साथ न देकर राम के साथ हो गये।

सीताजी की खोज में वे लंका पहुँचे तथा विभीषण के साथ वहाँ अशोक वाटिका में पहुँच गये जहाँ ग्यारह दिन से उपवास किये, राम के विछोह में

दु:खी सीताजी बैठी थी। उनका संकल्प था कि जब तक स्वामी राम की खबर नहीं मिलेगी तब तक आहार ग्रहण नहीं करूँगी। आज इस तरह के आदर्श को प्रस्तुत करने वाले विरले होते हैं।

हनुमान जी ने जाकर वंदना की और कहा कि मैं रामचंद्र जी के पास से आया हूँ। आपका विश्वास और दृढ़ता देखकर अचरज में पड़ रहा हूँ। आपका विश्वास सच्चा है। अब आप निश्चिन्त हो जाइये, श्रीराम कुशल हैं। सारा वृतांत सुनकर और रामचंद्र ही के द्वारा भेजी गई मुद्रिका देखकर सीता जी आश्वस्त और प्रसन्न हुई।

इस तरह न्याय का समर्थन करने वाले हनुमान को सफलता मिली। विभीषण ने भी अपने बड़े भाई रावण का साथ छोड़ दिया। प्रत्येक व्यक्ति के पास अपना-अपना पुण्य-पाप है। इसी के आश्रय से सारा संसार गतिमान है। चल रहा है।

तेजोबिंदु उपनिषद् में यह बात पढ़ने में आई कि-

"रक्षको विष्णुरित्यादि ब्रह्म सृष्टेष्ट तु कारणं,
संहारे रुद्रको सर्व एवं मित्थेपि निश्चनो।"

अर्थात् विश्व की सृष्टि करने वाला कोई ब्रह्मा, संरक्षण करने वाला कोई विष्णु या संहारक रुद्र (शंकर) मानना मिथ्या धारणा है। भीतर बैठी हुई आत्मा ही अपने अच्छे बुरे भावों की कर्ता है। आत्मा ही अपने भावों का यथासंभव संरक्षण करने वाली है और वहीं अन्त में अपने भावों को मिटाने वाली है। अत: प्रत्येक आत्मा स्वयं ब्रह्मा है और स्वयं ही विष्णु और शंकर है।

इस तरह इस उपनिषद् में बड़ी आन्तारिक घटना का उल्लेख है। दूसरे पर कर्तृत्व का आरोप लगाना मिथ्या है। अपने स्वतंत्र अस्तित्व को समझने के लिए ये वाक्य अमृत जैसे हैं। संसारी प्राणी अपने जीवन की बागडोर दूसरे के हाथों में सौंपकर स्वयं निश्चिंत होना चाहता है किन्तु अपनी आंतारिक शक्ति को (जो मौलिक है) जानने की कोशिश नहीं करता।

आणविक शक्ति के आविष्कारक अल्बर्ट आईस्टीन महान् वैज्ञानिक माने गये हैं। उन्होंने लिखा है कि मैंने अणु की शक्ति की खोज विश्व शांति के लिए मानव के कल्याण के लिए किये जाने वाले कार्यों के संपादन के लिए की है। मेरी दृष्टि विनाश की नहीं है। इतना अवश्य है कि जिस दिन मानव का दिल और दिमाग खराब हो जाएगा उसी दिन इस शक्ति के द्वारा प्रलय हो जाएगा।

जब तक हमारे भीतर का ज्ञान सही-सही देवता की उपासना करता रहेगा। जब तक मन निर्मल रहेगा और भौतिक बाह्य निधि भले ही मिट जाये लेकिन हमारी भीतरी निधि को मिटाना संभव नहीं होगा। वह अक्षुण्णय बनी रहेगी। विनाश की शक्तियों के बीच भी अहिंसा की यह आत्मिक शक्ति अपराजेय रहेगी। रावण के अहंकार और हिंसात्मक आचार-विचार पर विजय पाने वाले हनुमान जैसे अहिंसा धर्म के उपासक चारित्रवान् और न्यायप्रिय महापुरुष आज भी पूज्य हैं।

रावण को हराकर धर्मज्ञ विभीषण को लंका का राज्य सौंपकर जब राम अयोध्या लौट आये और सुख-शांति के साथ जीवन व्यतीत करने लगे तब एक दिन अपवाद की बात सुनकर सीता जी को वन में छोड़ आने का उन्होंने आदेश दे दिया। हनुमान जी ने विरोध किया पर राम अपने निर्णय पर अडिग रहे। कहा कि इसी में सभी का हित निहित है। यही दूरदर्शिता और मर्यादा है। अन्यथा राजा के न्याय के प्रति लोगों का विश्वास उठ जायेगा।

आज का न्याय केवल अर्थ (धनसम्पदा) और स्वार्थ पर निर्धारित हो गया है। परमार्थ का ध्यान नहीं। सच्चा अर्थपुरुषार्थ तो वह है जिसमें धनसम्पदा का संचय आत्मा के लिए किया जाता है तो जीवन के विकास में सहायक होता है।

राम की आज्ञा से सीता जी को तीर्थ यात्रा के बहाने ले जाकर वन में छोड़ते समय कृतान्तवक्र दु:खी होकर रोने लगे और कहा कि हे मातेश्वरी, राजा की आज्ञा से मुझे सेवक के नाते यह कार्य करना पड़ा लेकिन प्रभु के चरणों में अब यही प्रार्थना करता हूँ कि आगामी जीवन में कभी किसी की नौकरी न करना पड़े। आपके प्रति जो भी हुआ, वह ठीक नहीं हुआ।

इतना सुनते ही सीता जी ने कहा कि कृतान्तवक्र तुम दु:खी मत होओ और रामचन्द्र जी के प्रति ऐसा विचार मत लाओ, वे मेरे स्वामी हैं, उनकी आज्ञा शिरोधार्य है। जो भी हुआ वह मेरे पूर्व कर्मों के परिणाम स्वरूप हुआ है। इसमें किसी का कोई दोष नहीं है। तुम अपने राजा राम से जाकर इतना ही कहना कि सीता को छोड़ दिया सो कोई बात नहीं, लेकिन कभी धर्म का पक्ष, न्याय का पक्ष, नहीं छोड़ना।

बंधुओं! महान् आत्मायें अपने ऊपर आने वाली प्रत्येक विपत्ति को सहर्ष स्वीकार करती हैं और धर्म के मार्ग पर आरूढ़ रहकर दूसरों के लिए धर्म का मार्ग प्रदर्शित करती हैं।